२०१४ मे ही आपके आत्मिक कुटुम्ब की वृद्धि हुई और विश्व वन्दनीय ३६ मूलगुण सहचारी बनकर क्रीडास्थल मे अवतरित हुये जो स० २०२५ तक सच्चे सुहृद की भाति निर्बाध रूप से साथ रहे।

स० २०२५ फाल्गुन कृष्णा अमावस्या, १६ फरवरी १९६९ रविवार को मध्याह्न वेला मे ३-१५ पर जन्म के प्रति-पक्षी मरण (समाधि) ने उस तेजोमयमूर्ति को उसी प्रकार कवलित कर लिया जिस प्रकार अमावस्या चन्द्रमा को आत्मसात् कर लेती है। उसी समय आपके द्वारा संरक्षित, संवर्धित, सम्कारित एव आरोपित (लगाये हुये) पौधे वियोग रूपी प्रचण्ड ताप मे कुम्हलाते हुये देखे गये, और तभी से आज तक वे अपने निर्व्याज बागवान की संसार विच्छेदनी स्मृतियों को अपने हृदयरूपी भण्डार गृह मे संजोये हुये रखे है। उनमे से आपकी चिरवियोगरूपी स्मृति जब कभी गुरुभक्तिरूपी लोगो मे प्लावित हृदय को आन्दोलित कर देती है तब प्रकृति की निष्ठुरता पर मन आश्चर्यान्वित हो उठता है कि प्रकृति मा ने यदि वियोगरूपी ज्वाला को उत्पन्न किया था तो उसे स्मृति रूपी दाह को उत्पन्न नहीं करना चाहिये था। अर्थात् या तो इष्ट का वियोग ही न हो और यदि वियोग होता है तो उसकी स्मृति न आवे। किन्तु नहीं, यह मानो मन का गर्हित पहलू है। दर्शन तत्व की अगाध गहराई मे अवगाहन कर अन्वेषण किया जाय तो ज्ञात होता है कि संयोग की अपेक्षा वियोग ही व्यक्ति के व्यक्तित्व के विविध अभिव्यक्ति उजागर करता है और प्रयत्न-

मोक्षमार्ग के प्रेरणात्मक स्रोत, जनजन के हितैषी, धर्ममूर्ति, धर्मसंरक्षक, तपःशूर, तपःपूत, स्याद्वादवाणी के पवित्र धारा प्रवाही, एवं शिव (कल्याण) के सागर थे। आकाश मण्डल स्थित तारागणों के सदृश आपके गुणों की गणना कर सकने में कौन समर्थ हो सकता है ? आपके गुणों के आप ही विशेष्य और आप ही विशेषण थे। आज आपका पार्थिव शरीर दृश्यमान नहीं है किन्तु आपका सदुपदेश रूपी सौरभ आज भी हृदय को सुवासित कर रहा है। आपकी तेजोमय आभा क्षितिज और अन्तरीक्ष में व्याप्त आज भी भक्तों को ज्योति प्रदान कर रही है।

परोपकार ही आपके जीवन का व्रत था और इसी व्रत के पालनार्थ ही शायद आपने अपना पार्थिव शरीर फाल्गुन कृष्णा अमावस्या को छोड़कर हम लोगों का अन्त पर्यन्त उपकार किया है। हे गुरुदेव ! यदि आप एक दिन पूर्व या एक दिन पश्चात् इस महाप्रयाण के लिये प्रस्थान करते तो परम पूज्य आचार्य कल्प श्रुतसागरजी महाराज की जन्म जयन्ति हमें कौन मनाने देता ? १२ वर्ष पर्यन्त छाया सदृश निरन्तर साथ रहने वाले अपने अनन्य भक्त गुरुभाई की जन्मजयन्ति मनाने का शुभ संकेत करने के लिये ही मानों आपने अपनी स्वर्ग यात्रा के लिये अमावस्या को प्रयाण किया था क्योंकि उसी दिन परमोपकारी पूज्य श्रुतसागरजी महाराज की आत्मा ने मानव देह के माध्यम से जन्म लिया था। जिस काली अमावस्या ने

हमारा सर्वोत्कृष्ट सम्बल छीनकर हमारे एक नेत्र में शोक के अश्रु विन्दुओं का सृजन कर हमें घोर अन्धकार मे भी प्रकाश की रेखा प्रदान की है। यह सम्पूर्ण श्रेय महोपकारी परम पूज्य १०८ आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज का ही है। पूज्य गुरुदेव के पुनीत चरणो मे ९ वे समाधि दिवस के अवसर पर श्रद्धा एवं भक्ति से सस्कारित अनन्त श्रद्धाञ्जलिया समर्पित करती हुई कोटिशः नमन करती हूँ।

—आर्यिका विशुद्धमति

परम पूज्य धवलकीर्ति प्राप्त आचार्यकल्प १०८ श्री

श्रुतसागरजी महाराज
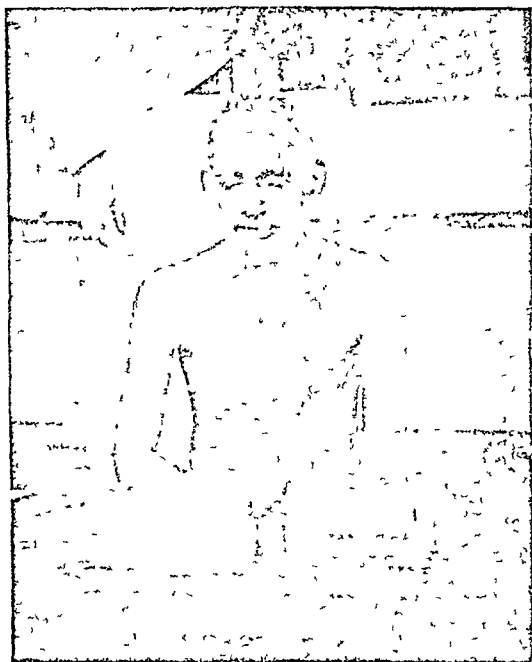
जन्म तिथि	मुनि दीक्षा
फाल्गुन कृष्णा ऽऽ	भाद्रपद शुक्ला ३
वि० स० १९६२	वि० स० २०१४
बीकानेर	जयपुर (खानियाँ)

प्रकाशकीय

श्री परम पूज्य १०५ श्री आर्यिका विशुद्धमती माताजी के सपर्क मे आने का सौभाग्य मुझे श्री १०८ श्री आचार्यकल्प श्रुत-सागरजी महाराज के सघ के रेनवाल चातुर्मास के समय हुआ। सघ के उस ६ मास के प्रवास मे पूज्य माताजी के मार्मिक प्रभाव-शाली व गहन अध्ययन पूर्ण प्रवचनो का श्रवण करने से पूज्य माताजी के प्रति मनमे गहरी श्रद्धा प्रकट हुई व हृदय पर एक ऐसी छाप पडी कि अभी वर्तमान इस कलिकाल मे दिगम्बर जैन श्रमण सघ मे ऐसी प्रकाड विदुषी व सयम साधनामे रत आर्यिकाऐ मौजूद हैं जो इस असार ससार मे अज्ञानी पामर प्राणियो को ज्ञान दान देकर सन्मार्ग पर लगाने मे सक्षम हैं।

अभी २ वर्ष बाद पुन पूज्य माताजी का रेनवाल मे गत पौस मास मे आगमन हुआ। उनके इस २५ दिनके प्रवास मे पूज्य माताजी के नियमित प्रवचनो को सुनने व मनन करने का अवसर प्राप्त हुआ। इसी सिलसिले मे प्रस्तुत पुस्तक आत्म-प्रसून की प्रेस-कापी माताजी के पास देखकर मनमे इसको प्रकाशित करवाने की भावना जागृत हुई। तदनुसार पूज्य माताजी को निवेदन किया व उन्होने इसकी स्वीकृति देकर अनुगृहीत किया।

यह पुस्तक मेरी स्वर्गीय पूज्य भाभी श्रीमती घेवरीदेवी गगवाल की स्मृति में स्थापित श्री घेवरीदेवी गगवाल चेरिटेवल ट्रस्ट फड की तरफसे प्रकाशित की जा रही है।

परम पूज्य माताजी की अनुकपा से इस पुस्तकको प्रकाशित कराने का सुअवसर प्राप्त हुआ इसका मुझे अति उल्लास है और श्री १००८ श्री महावीर प्रभुसे यही प्रार्थना है कि पूज्य माताजी दीर्घायु को प्राप्तकर समय समय पर मुझ जैसे अज्ञानी प्राणी को सवोधन देते रहे।

किशनगढ रेनवाल
फरवरी १९७७

निवेदक—
गुलाबचन्द गंगवाल

प्रस्तावना

❋

मोक्षमार्ग का मूल आधार आत्म ज्ञान है। 'रूप रस गन्ध और स्पर्श से रहित ज्ञाता दृष्टा स्वभाव वाला आत्मा स्वतन्त्र द्रव्य है' ऐसी दृढ प्रतीति हुए विना सम्यग्दर्शन की प्राप्ति दुर्लभ है। सम्यग्ज्ञान भी इसी आत्मज्ञान से सबद्ध है। जब तक सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति नही होती तब तक सम्यक् चारित्र भी सुलभ नही होता। स्वरूपरमणता, स्वरूपज्ञान के विना संभव नही है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के विना पञ्च पाप के त्याग रूप व्यवहार चारित्र के समय यदि कषाय की मन्दता होती है तो उसके फल स्वरूप यह जीव नव ग्रैवेयक तक अवश्य उत्पन्न हो जाता है परन्तु ससार भ्रमण से नही छूटता।

जीवद्रव्य अनादि काल से कर्म नोकर्म रूप पुद्गल द्रव्य से सबद्ध होने के कारण संयोगी पर्याय को प्राप्त हो रहा है। इसकी एकत्व विभक्त पर्याय आज तक प्रकट नही हुई। इस सयोगी पर्याय को ही आत्मा मानकर यह जीव चतुर्गति मे परिभ्रमण कर रहा है। इस परिभ्रमण से यदि मुक्त होने की इच्छा है तो सर्व प्रथम इस भेद विज्ञान को प्राप्तकर कि मैं आत्मद्रव्य, कर्म नोकर्म तथा भाव कर्म से पृथक् हूँ। कर्म नोकर्म तो स्पष्ट ही पुद्गल द्रव्य

है परन्तु राग द्वेषादिक भाव कर्म भी पुद्गल द्रव्य के निमित्त से होने के कारण पौद्गलिक कहे जाते है। यद्यपि इनका उपादान कारण आत्मा है तथापि पौद्गलिक कर्म की उदयावस्थाजन्य होने से विभावरूप है। ज्ञान दर्शन का जिस प्रकार आत्मा के साथ त्रैकालिक सम्बन्ध है उस प्रकार रागद्वेषादिक का त्रैकालिक सम्बन्ध नही है। जो स्व मे स्व के निमित्त से होता है वह स्वभाव है और जो स्व मे परके निमित्त से होता है वह विभाव है। विभाव विकारी परिणाम है तथा बन्ध का कारण है। इस प्रकार के भेद विज्ञान की महिमा का वर्णन करते हुए अमृतचन्द्राचार्य ने समयसार कलश मे कहा है—

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन॥

अर्थात् आज तक जितने सिद्ध हुए है वे सब भेद विज्ञान से ही सिद्ध हुए है और जो ससार मे बद्ध है वे भेद विज्ञान के अभाव से ही बद्ध है।

कुन्दकुन्द स्वामी ने समयसार के मोक्षाधिकार मे इस सदर्भ को अत्यन्त मार्मिक शब्दो मे लिखा है। वे कहते है—

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं।
बंधो छेए दव्वो सुद्धो अप्पा य घेतव्वो ॥२९५॥

जीव और बन्ध अपने अपने लक्षणो से जाने जाते है सो जानकर बन्ध तो छेदने योग्य है और जीव—आत्मा ग्रहण करने के योग्य है।

शिष्य कहता है भगवन् ! वह उपाय तो बताओ जिसके द्वारा मैं आत्मा का ग्रहण कर सकूं। उत्तर मे कुन्दकुन्द महाराज कहते है —

कह सो घिप्पइ अप्पा पण्णाए सो उ घिप्पए अप्पा ।
जह पण्णाइ विहत्तो तह पण्णा एव घित्तव्वो ॥२९६॥

उस आत्मा का ग्रहण कैसे किया जाय ? प्रज्ञा —भेदज्ञान के द्वारा आत्मा का ग्रहण किया जावे। जिस तरह प्रज्ञा से उसे विभक्त किया था उसी तरह प्रज्ञा से उसे ग्रहण करना चाहिये।

पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णायव्वा ॥२९७॥

प्रज्ञा के द्वारा ग्रहण करने योग्य जो चेतयिता है वही मैं हू और अवशेष जो भाव हैं वे मुझसे पर है।

धर्म, अधर्म, आकाश और काल तो आत्मा से पृथक् ही है उनके साथ एकत्व की भ्रान्ति किसी को नही होती। घट पटादि पुद्गल द्रव्य भी आत्मा से भिन्न हैं अत उनके प्रति भी एकत्व का भाव नही होता परन्तु नोकर्म-कर्म और भाव कर्म के साथ इस जीवका अनादि से सम्बन्ध बन रहा है इसलिये अज्ञान वश इस जीव की इनके साथ एकत्व बुद्धि हो रही है। अज्ञान दशा—मिथ्यात्व के दूर होते ही इसकी इनके साथ एकत्व बुद्धि समाप्त हो जाती है तथा उनसे आत्मा को पृथक् करने का पुरुपार्थ चलने लगता है।

शास्त्र पढने का मूल प्रयोजन भी यही है कि उसके माध्यम से स्व को—ज्ञायक स्वभाव आत्मा को पढा जाय। आचार्यों ने

पुण्य पाठ के रूप मे इन श्लोको का आवर्तन किया जाय तो इससे आत्मज्ञान की उपलब्धि मे बहुत सहायता प्राप्त हो सकती है। जिन आचार्य कल्प श्रुतसागरजी महाराज के जन्म दिवस पर इस पुस्तक का प्रकाशन हो रहा है उनके चरणो मे मेरा सविनय नमस्कार है वे परम परीक्षा प्रधानी साधु है इसीलिये जन्मना श्वेताम्बर होते हुए भी दिगम्बर मुद्रा के धारी है। उनका 'श्रुत-सागर' यह सार्थक नाम है। दिवगत आचार्य शिवसागरजी महाराज के वे साथी हैं। मुनिसघ के सचालन मे अत्यन्त निपुण है। उनका वात्सल्यपूर्ण व्यवहार मुनिसघ के प्रत्येक साधु और साध्वी को स्वधर्म मे स्थित रखने वाला है।

'आत्म प्रसून' पुस्तक के सकलन करने तथा उसका प्रकाशन कराने मे पूज्य माताजी ने जो श्रम किया है उसके लिये उनका अत्यन्त आभारी हूँ। जिन सज्जन की ओर से पुस्तक का प्रकाशन हो रहा है वे भी धन्यवाद के पात्र है। जिनवाणी के प्रचार प्रसार मे जिनकी ओर से मनसा वाचा कर्मणा जो भी सहयोग किया जाता है वह उनके ज्ञानावरण के क्षय और क्षयोप-शम मे कारण होता है। ऐसे महानुभावो के प्रति मेरी हार्दिक श्रद्धा है।

वर्णी भवन–सागर
२६ जनवरी १९७७

विनीत—
पन्नालाल साहित्याचार्य

आद्यमिताक्षर

द्रव्य—लोक मे जीव, पुद्गल, धर्म अधर्म, आकाश काल ये छह द्रव्य है, उनमे से धर्म, अधर्म, आकाश और काल चार द्रव्य तो त्रैकालिक शुद्ध है, कभी अशुद्ध होते ही नही। कनक पाषाण के सदृश ससारावस्था मे जीव द्रव्य स्वय विकारी है और पुद्गल के विकार मे भी निमित्त बनता है, किन्तु शुद्ध जीव द्रव्य धर्मादि चार द्रव्यो के सदृश सदा शुद्ध ही रहता है, न वह अब स्वय कभी विकारी होगा और न अन्य द्रव्य के विकार मे ही कारण होगा। पुद्गल द्रव्य की स्थिति भी जीव द्रव्य के सदृश ही है, किन्तु उसमे विशेषता केवल इतनी है कि पुद्गल द्रव्य शुद्ध होकर पुन. विकारी हो जाता है। इन छहो द्रव्यो मे पाच द्रव्य अचेतन है, मात्र एक जीव द्रव्य ही चेतन है। इसी कारण इसका चेतना लक्षण अन्य समस्त द्रव्यो से असाधारण (अन्य द्रव्यो से पृथक् कराने वाला लक्षण) है। प्रत्येक द्रव्य अपने अपने स्वभाव सहभावी गुणो, क्रमभावी पर्यायो और अनन्तधर्मों से युक्त होता है। प्रत्येक द्रव्य के अपने अपने स्वभाव निरपेक्ष किन्तु धर्म सापेक्ष होते है। जैसे—जीवद्रव्य का ज्ञायक स्वभाव अग्नि की उष्णता के सदृश स्वत· सिद्ध है। ज्ञायक स्वभाव किसी की अपेक्षा नही रखता, किन्तु कण्डे की अग्नि एव कोयले की अग्नि इत्यादि के सदृश धर्म सापेक्ष होते हैं। जैसे—तत् अतत्, एक-अनेक, नित्य अनित्य, सत्-असत् इत्यादि।

जो वस्तु जिन भावो से सर्व अवस्थाओ मे व्याप्त हो उस वस्तु का उन भावो के साथ तादात्म्य सम्बन्ध कहा जाता है। जीव नामा द्रव्य अपनी सर्व अवस्थाओ मे चेतना से व्याप्त होकर रहता है, इसलिए जीव द्रव्य का चेतना से तादात्म्य है, और उस चेतना की दृशि और ज्ञप्ति (सामान्य विशेषात्मक) ये दो वृत्तियां हैं। अर्थात् देखने जानने की शक्ति से युक्त द्रव्य को जीव कहते है, अत ज्ञान दर्शन ही जीव का लक्षण (स्वभाव) है। पुद्गल के निमित्त से होने वाले रागादि भाव वैसे आत्म द्रव्य का ही परिणमन है, किन्तु इन विभाव भावो का जीव द्रव्य की सर्व अवस्थाओ (मोक्ष) मे व्याप्यपने का अभाव है, अतः वर्तमान मे विभावभावो से तन्मय होते हुए भी ये नैमित्तिक भाव जीव के स्वभाव भाव नही है। "परिणमदि जेण दव्व तक्कालं तम्मय त्ति पण्णत्त" इस गाथाशानुसार जो द्रव्य जिस काल मे जिस रूप से परिणमन करता है, वह उस काल मे उन भावो से तन्मय हो जाता है। जैसे—जपापुष्प के निमित्त से स्फटिक का रक्तिमामय होना, अग्नि के सम्पर्क से जल का खौलना और मदिरा के सम्पर्क से मनुष्य का उन्मत्त होना, किन्तु इन अवस्थाओ मे भी यदि किसी से इनका स्वभाव पूछा जाय तो उत्तर यही मिलेगा कि स्फटिक का स्वभाव स्वच्छ, जल का स्वभाव शीतल और मनुष्य का स्वभाव मानवता है। इसी प्रकार आत्मा वर्तमान मे राग आदि रूप है अत. रागद्वेषमय ही है, इस अवस्था मे वीतरागपना होना असम्भव है, क्योकि वर्तमान मे औष्ण्य परिणत अयः

व्यवहार नय से देखेगा कि वस्त्र मैला है। यदि कोई भी एक नय अपने प्रतिपक्षी नय की उपेक्षा करके वस्त्र को देखेगा तो वस्त्र कल्पान्त मे भी स्वच्छ नही किया जा सकता, क्योकि यदि व्यवहार नय की उपेक्षा कर वस्त्र को स्वच्छ ही मान लिया जायगा तो स्वच्छ को स्वच्छ करने का पुरुषार्थ क्यो करेगा ? और यदि निश्चय की उपेक्षा करते हुए वस्त्र को मैला ही मान लिया जायगा तब भी वस्त्र स्वच्छ नही किया जा सकता, क्योकि जिसका स्वच्छ स्वभाव दृष्टिगत नही हुआ उसे स्वच्छ करने का पुरुषार्थ ही कौन करेगा ? वस्त्र साफ तो वही कर सकता है, जो निश्चय से वस्त्र के शुद्ध स्वभाव की दृढ श्रद्धा कर व्यवहार नय से मैल के सयोग का ज्ञान कर उसे दूर करने का वाह्याभ्यन्तर समीचीन पुरुषार्थ करने मे उद्यमी होगा। इसी प्रकार निश्चय नय कहता है कि आत्मद्रव्य शुद्ध है, बुद्ध है, एक है, निर्लेप है इत्यादि और व्यवहार नय कहता है कि आत्मा अशुद्ध है,कर्मो से वद्ध है इत्यादि इन दोनो वातो को यथार्थ जान लेने पर ही कर्मो को काटने का पुरुषार्थ किया जायगा।

अनादि काल से यह आत्मा चौरासी लाख योनियो मे भ्रमण करते हुए भयकर कष्टो का सामना कर रही है। इस संसार रूपी रगमच पर इस जीव ने सुख प्राप्ति की अभिलाषा से अनेकानेक स्वाग वनाये हैं और वना रहा है किन्तु आज तक इसे सुख तो वहुत दूर उस अपने स्वभाव गत सुख की गव भी प्राप्त नही हो सकी, कारण कि पुरुषार्थ की समीचीन दिशा दृष्टिगत नही

हुई। कार्य बहुत किये किन्तु लक्ष्य को भूलाकर अपना स्वरूप को बिना समझे कार्य किये अतः आज तक सफलता प्राप्त न हो सकी। यथार्थ मे तत्त्व ज्ञान सुव्यवस्थित एवं निर्णीत है, किन्तु अनादि कालीन विभावभावो के संयोग मे मिश्रित होने के कारण उसे दृष्टिगत करना कठिन हो रहा है। पानी मे मिला हुआ दुग्ध या दुग्ध मे मिली हुई शक्कर को जैसे हमारी प्रज्ञा भिन्न कर लेती है उसी प्रकार यदि अपने टंकोत्कीर्ण स्वभाव को भिन्न एव रागादि की भिन्न श्रद्धा कर सके तो कल्याण दूर नही। आचार्य अमृतचंद्र कहते है कि—

> ज्ञानादेव ज्वलनपयसोरौष्ण्यशैत्यव्यवस्था ।
> ज्ञानादेवोल्लसति लवणस्वादभेदव्युदासः ।
> ज्ञानादेव स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातोः ।
> क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिंदती कर्तृभावम् ॥

अर्थ:—जैसे अग्नि एव जल की उष्णता और शीतलता ज्ञान से ही जानी जाती है, लवण और व्यजन का भेद ज्ञान से ही जाना जाता है, उसी प्रकार अपने रस से विकास रूप हुआ नित्य चैतन्य धातु उसका तथा क्रोधादि भावो का भेद भी ज्ञान से ही जाना जाता है।

यथार्थ मे आत्म स्वभाव (ज्ञान) और विभाव भावो क क्षीरोदक वत् एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध है किन्तु फिर भी दोनो ं भिन्न भिन्न लक्षणो एवं शक्ति अशो (अविभागीप्रतिच्छेदों) की

न्नता से दोनो की सूक्ष्म सन्धि को दृष्टि मे लेकर अपने स्वभाव
समीचीन श्रद्धा करना चाहिये। इसके विना सर्व पुरुषार्थ
फल है। वर्तमान पर्याय मे भी स्वभाव दृष्टि से आत्मा ज्ञायक
भावी, अमूर्तिक, अखण्ड ज्ञानानन्दमय और परम चिज्ज्योति
रूप है, परन्तु पर्याय दृष्टि से इस आत्मा के साथ तैजस व
र्मण दो सूक्ष्म शरीर प्रवाह रूप से अनादि काल से चले आ
है. इस कार्माण शरीर के कारण ही आत्मा मे रागद्वेप मोह
दि भाव और औदारिक वैक्रियक आदि शरीर पाये जाते है।
ही कारणो से जीव को ससार मे ससरण करते हुए अनन्त दु ख
ोगने पड रहे है। यह सव परिणमन जीव का ही है और अनादि
ालीन है, इसीलिए आत्म स्वभाव की पहिचान मे भ्रम उत्पन्न
ो रहा है। इन वर्तमान भावो से भिन्न कोई अन्य भाव मेरा
वभाव है ? ऐसा विश्वास नही हो पाता। आचार्य कहते है कि-

परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥

यह जीव आप ही अपने चैतन्यमय भावो से जव परिणमन
रता है, तव वहाँ पुद्गलकर्म का उदय निमित्त होता है, अत
गादि भाव नैमित्तिक है, जीव के स्वभाव नही हैं।

इस प्रकार विभाव भावो से भिन्न आत्मा का समीचीन
रूप श्रद्धा मे, प्रतीति में और रुचि मे जम जाना द्रव्यानुयोग का
म्यग्दर्शन है। इसी सम्यग्दर्शन के साथ सम्यग्ज्ञान होता है जो
गय आदि से रहित आत्मा का स्वरूप परमात्मा के सदृश ज्ञाता,

लोह पिण्ड लाया, और नदी के गज प्रवेश क्षेत्र के पत्थर निकाल कर नदी किनारे ढेर लगा कर बैठ गया, तथा एक एक पत्थर उठाता, लोह पिण्ड मे लगाता और पुन' नदी में फेक देता, इस क्रिया को करते हुए कुछ दिन तो लक्ष्य दृष्टिगत रहा किन्तु जव हाथ इस क्रिया मे अभ्यस्त हो गये तव लक्ष्य तो भूल गया, केवल क्रिया रह गई। पत्थर उठाना, लोह पिण्ड मे लगाना और नदी मे फेक देना। वस उठाना, लगाना, फेकना। उठाना लगाना फेंकना इसी मे सलग्न हो गया। यह क्रिया क्यो कर रहा हूँ ? इसका ध्यान न रहा। क्रिया करते हुये पारस पथरी भी हाथ मे आई उसका भी स्पर्श लोह पिण्ड से हुआ और पुन. नदी मे फेक दी गई। कव और किस पत्थर ने लोह को स्वर्ण कर दिया यह पता ही न पड सका इसीलिए हस्तगत पारस पत्थर पुन नदी का नदी मे चला गया।

यही स्थिति आज जगत के जीवो की हो रही है। अधिकाशत. तो प्रमादी और आलसी है अतः चारित्र धारण की ओर उन्मुख भी नही होते और दुर्लभ नर भव को व्यर्थ खो रहे हैं। कुछ पुरुषार्थी भव्य रत्नत्रय धारण का उपक्रम करते हैं, किन्तु क्रियाओ मे इतने सलग्न हो जाते हैं कि जिस आत्मोपलब्धि के लिए चारित्र धारण करने का परम पुरुषार्थ किया था उससे विस्मृत हो जाते है। उस लक्ष्य भ्रष्ट पारस पत्थर के इच्छुक मनुष्य के समान हमे अपने शुद्ध स्वभाव के लक्ष्य से च्युत नही होना है। चरणानुयोग की आज्ञानुसार वाह्याभ्यन्तर चारित्र की। क्रियाओ

ोह पिण्ड लाया, और नदी के गज प्रवेश क्षेत्र के पत्थर निकाल कर नदी किनारे ढेर लगा कर बैठ गया, तथा एक एक पत्थर उठाता, लोह पिण्ड मे लगाता और पुन नदी मे फेक देता, इस क्रिया को करते हुए कुछ दिन तो लक्ष्य दृष्टिगत रहा किन्तु जब हाथ इस क्रिया मे अभ्यस्त हो गये तब लक्ष्य तो भूल गया, केवल क्रिया रह गई। पत्थर उठाना, लोह पिण्ड मे लगाना और नदी मे फेक देना। बस उठाना, लगाना, फेंकना। उठाना लगाना फेकना इसी मे सलग्न हो गया। यह क्रिया क्यो कर रहा हूँ? इसका ध्यान न रहा। क्रिया करते हुये पारस पथरी भी हाथ मे आई उसका भी स्पर्श लोह पिण्ड से हुआ और पुन. नदी मे फेक दी गई। कब और किस पत्थर ने लोह को स्वर्ण कर दिया यह पता ही न पड सका इसीलिए हस्तगत पारस पत्थर पुन नदी का नदी मे चला गया।

यही स्थिति आज जगत के जीवो की हो रही है। अधिकाशत. तो प्रमादी और आलसी है अतः चारित्र धारण की ओर उन्मुख भी नही होते और दुर्लभ नर भव को व्यर्थ खो रहे हैं। कुछ पुरुपार्थी भव्य रत्नत्रय धारण का उपक्रम करते है, किन्तु क्रियाओ मे इतने सलग्न हो जाते है कि जिस आत्मोपलब्धि के लिए चारित्र धारण करने का परम पुरुपार्थ किया था उससे विस्मृत हो जाते है। उस लक्ष्य भ्रष्ट पारस पत्थर के इच्छुक मनुष्य के समान हमे अपने शुद्ध स्वभाव के लक्ष्य से च्युत नही होना है। चरणानुयोग की आज्ञानुसार बाह्याभ्यन्तर चारित्र की क्रियाओ

का [illegible] यथार्थ प्रतिपादन करते हुए भी अपने स्वभाव को निरन्तर सामने रखता है। यही बात श्री अमृतचन्द्र आचार्य कहते है कि—

सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यतां,
शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमं ज्योतिः सदैवास्म्यहम् ।
एते ये तु समुल्लसन्ति विविधा भावाः पृथग्लक्षणा-
स्तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि ॥

दृढ चित्त से चारित्र के पालने वाले मोक्षार्थी महात्माओ को इसी सिद्धान्त का सेवन करना चाहिए कि मै सदा ही एक शुद्ध चैतन्यमात्र ज्योति हूँ, और जितने नाना प्रकार के रागादि भाव मेरे मे झलकते है, उन रूप मै नही हूँ, क्योकि वे सर्व ही परद्रव्य है।

इस प्रकार जब रागादि भाव एव क्षायोपशमिक आदि भाव भी मेरे नही है तब बाह्य परिकर, अन्य बाह्य पदार्थ और बाह्य क्रियाएँ मेरी कैसे हो सकती है। जब ये मेरे हो नही सकते तब मात्र इनसे मेरा कल्याण कैसे हो सकता है? इस प्रकार का आत्म निर्णय करके कल्याणेच्छु भव्य जीवो को निरन्तर अपने ज्ञान स्वभाव की उपासना करनी चाहिए, और इससे अन्य सभी सकल्प विकल्पो का यथाशक्य त्याग कर देना चाहिए। इसी मे कल्याण निहित है। यही मार्ग सुनिश्चित है, अत 'अयि कथमपि मृत्वा—तत्वकौतूहलीसन्" हे भव्य! किसी तरह हो, मर पच करके भी आत्मीकतत्त्व का प्रेमी होना चाहिये, क्योकि "दुर्लभोऽत्र जगन्मध्ये चिद्रूपरुचिकारक." इस लोक मे शुद्ध चैतन्य के स्वरूप

की रुचि रखने वाले मानव दुर्लभ हैं, अर्थात् आत्मतत्व की रुचि जागृत होना अति दुर्लभ है, इसलिए प्रयत्न पूर्वक इसे जागृत करना चाहिए ।

चारित्र की प्रतिपालना के साथ साथ कल्याणेच्छु भव्य ज्ञानार्थियो का लक्ष्य आत्म स्वभाव पर निरन्तर बना रहे इसी उद्देश्य को लेकर इस "आत्म-प्रसून" नामक अल्पकाय पुस्तिका का प्रभव किया जा रहा है । अनेक शास्त्रो मे से केवल आत्मस्वरूप का बोध कराने वाले श्लोक एवं गाथाओ का चयन करके इस पुस्तक का सकलन किया गया है । कुन्दकुन्दाचार्य प्रभृति अनेक पूर्वापर आरातीय आचार्यों ने व्यवहार रत्नत्रय रूपी वाटिका में विहार करते हुए श्रुतनिकुञ्ज के पुञ्ज मे शुद्ध आत्मस्वरूप को दर्शाने वाले महासौरभ से युक्त अनेक प्रसूनो का पराग अपने ग्रन्थो मे फैलाया है, उन्ही मे से कुछ आत्मप्रसून एकत्रित किए गये हैं, क्योकि—

"जहि अप्पा तहि सयल-गुण केवलि एम भणति · ·"

जहाँ आत्मा है वहाँ समस्त गुण हैं–ऐसा केवली भगवान् ने कहा है । स्याद्वाद रूपी कल्पवृक्ष से प्रसूत होने वाला यह आत्म प्रसून मात्र स्वभाव अपेक्षा आत्मा का स्वरूप प्रगट करना चाहता है, आत्मा "ऐसा ही है" इस प्रकार की दुर्वासना से युक्त नही है क्योकि योगीन्दु देव अपने योगसार ग्रन्थ मे कहते हैं कि—

"जइ बद्धउ मुक्कउ मुणहि तो बधियहि णिभतु· · · · · ·

यदि वह कर्म बन्ध से रहित आत्मा को मुक्त मान लेगा तो निगोद मे जावेगा और ससार परिभ्रमण करेगा।

आचार्यों ने समाधि काल मे प्रथमानुयोग का अवलम्बन सर्वोपरि कहा है। प्रथमानुयोग बोधि समाधि का निधान-खजाना है अत. इस अनुयोग मे परिलक्षित "समाधि दीपक" नाम की एक पुस्तक का सकलन गत वर्ष किया गया था, जिसमे उपसर्ग प्राप्त अनेको मुनिराजो के आख्यान दिये गये है। वे मुनिराज जिस आत्म स्वभाव गत दृष्टि के अवलम्बन से उपसर्ग विजयी हुए हैं समाधि कालमे उसी आत्म स्वभाव का अवलम्बन लेकर प्राणी इस ससार समुद्र के दु ख भार को कम कर सकता है। यही एक परमोत्कृष्ट सम्बल है जो आत्माधीन है, इस अपूर्व सम्बल की प्राप्ति मुझे अनादिकाल से आज तक नही हुई, अब गुरुजनों के परम प्रसाद से मुझे भी उस अनुपलब्ध आत्मस्वभाव की श्रद्धा उपलब्ध हो इसी भावना से परम पूज्य, परम तपस्वी, अनेक गुण समन्वित, तत्त्वदर्शी आत्मस्वभावदर्शी, अनन्यश्रद्धेय, श्रुत के भाण्डार स्वरूप आचार्यकल्प १०८ श्री श्रुतसागर महाराजजी के ७२ वे जन्म दिवस की शुभ स्मृति मे यह स्याद्वाद सौरभ से सुवासित आत्म-प्रसून प्रकाशित किया जा रहा है।

इन सुमनों का चयन भगवान कुन्दकुन्द के समयसार, प्रवचनसार, नियमसार आदि ग्रन्थों से योगीन्द्र देव के परमात्म प्रकाश और योगसार से, गुणभद्र के आत्मानुशासन से, पद्मनन्दि के पद्मनन्दि पंचविंशतिका ग्रन्थ से, शुभचन्द्राचार्य के ज्ञानार्णव से,

ज्ञानभूपरण भट्टारक के तत्त्वज्ञानतरगिणीसे, पूज्यपाद के समाधि-तन्त्र एव इष्टोपदेश से, अमृतचन्द्राचार्य के समयसार कलश एव तत्त्वार्थसार से, तथा आचार्य कुन्थुसागर के शान्तिसुधा आदि ग्र थो से किया गया है । इन प्रसूनो के समीचीन भावरूपी हार को जो भव्यजन अपने हृदयङ्गत करेंगे, वे शीघ्र ही कल्याण के भाजन होगे ।

विद्यागुरु परमपूज्य विद्यावारिधि १०८ अजितसागर महाराजजी शास्त्र भण्डारो का अवलोकन कर अनेक प्राचीन कृतियो का सकलन करने मे निरन्तर अथक परिश्रम करते रहते है । आपको स. २०३२ के सवाई माधोपुर वर्षायोग में प गोरेलालजी के पास एक हस्त लिखित गुटका प्राप्त हुआ, जिसमे अकलक देव विरचित टीकासहित एक चित्रकाव्य था उसे आपने नोट कर लिया इस चित्रकाव्य की यह विशेषता है कि इसके एक एक पद मे दो दो तीर्थंकरो के नाम आये हुए है । इसकी हिन्दी प्रोफेसर चेतनप्रकाशजी पाटनी, जोधपुर ने की है । यह चित्रकाव्य वहुत सुन्दर है अत इसका भी सकलन इस पुस्तक मे कर दिया गया ।

श्री घेवरीदेवी गगवाल चेरिटेबल ट्रस्ट के सचालक श्री गुलावचन्दजी गंगवाल किशनगढ रेनवाल निवासी भी धन्यवाद के पात्र है जिन्होने ट्रस्ट की ओर से इस पुस्तक को प्रकाशित करा दिया है जो उनके विशिष्ट ज्ञान प्राप्ति का द्योतक है ।

स० २०३३ कार्तिक सुदी
पूर्णिमा

आर्यिका विशुद्धमति

चित्रकाव्यम्

श्री नाभिसूनो ! जिनसार्वभौम !
वृषध्वज ! त्वन्नतये ममेहा
षड्जीवरक्षापर ! देहि देवी
भर्त्रर्चित स्व पदमाशु वीर ॥१-२४॥

व्याख्या — हे श्रीनाभिसूनो ! हे जिनसार्वभौम ! सामान्य केवलिचक्रवर्तिन् ! वृषध्वज ! वृषभाङ्क ! त्वन्नतये भगवन्नमस्काराय मम मे ईहा वाञ्छा वर्तत इति सम्बन्ध । श्रीनाभिसूनस्तावदन्योऽपि कोऽपि भविष्यतीति आशसानिरासार्थं जिनसार्वभौमेति पद । जिनसार्वभौमा. सर्वेऽप्यर्हन्त । अतः प्रथमजिननिर्धारणाय वृषध्वजेति पदम् । इति पूर्वार्धेनाद्य जिन स्तुत्वाऽपरार्धेन पश्चिमजिनस्तवनमाह—

हे षड्जीवरक्षापर ! पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसलक्षणा. षड्जीवा. । तेषा रक्षा पालन तत्परः षड्जीवरक्षापर । तस्य सम्बोधन षड्जीवरक्षापर ! हे वीर ! वर्धमान ! त्व आशु शीघ्र स्व निज पद मोक्षलक्षण स्थान देहि वितर ! किं विशिष्ट पद ? देवीभर्त्रर्चित देव्यो देवाङ्गनास्तासा भर्तारो देवा. तैरर्चित पूजित तैरप्याराधित सर्वोत्कृष्टत्वादित्यर्थ. ॥१-२४॥

अर्थ — हे श्रीनाभिराजा के पुत्र ! जिनों के (सामान्य केवलियो के) चक्रवर्ती वृषध्वज ! श्रीवृषभचिह्न ! आपको

नमस्कार करने की मेरी इच्छा है। हे षड्काय के जीवो की रक्षा मे तत्पर वीर ! महावीर ! आप अपना देवो से पूजित अर्चित पद (मोक्षपद) मुझे प्रदान कीजिए ॥१-२४॥

श्रीनन्दनाद्या व्यथयन्ति पाप्मा
अवाप्तदेवाजित ! मा सुपार्श्व !
जिनाङ्गिनां रोगततिर्विलीना
त्वाभिधानादपि पार्श्वनाथ ॥२-२३॥

व्याख्याः— हे आप्त ! हितकारिन् ! देव अजित ! श्री नन्दनाद्याः कामक्रोधलोभमानदर्पाः पापा. पापिष्ठा. मा व्यथयन्ति पीडयन्ति ! त्व अव रक्ष ! हे सुपार्श्व ! सुष्ठु शोभन पार्श्व समीप यस्य तस्यामन्त्रण हे सुपार्श्व ! शोभनसमीप ! अथ द्वितीयार्धव्यास्या-हे पार्श्वनाथजिन ! अङ्गिना प्राणिना शरीरिणा रोगततिर्व्याधिपरम्परा तव भवतोऽभि-धानान्नामतोऽपि विलीना विलय जगामेत्यर्थः ॥२-२३॥

अर्थः— हे शोभनसमीप आप्त (हितकारी) देव श्री अजित ! कामादिक (काम, क्रोध, लोभ, मान, दर्प) पाप मुझे सताते हैं। आप मेरी रक्षा कीजिए। हे जिन पार्श्वनाथ ! आपके नामसे देहधारियों की रोगपरम्परा विलीन हो गई ॥२-२३॥

संसार पारोऽजनि मेऽद्य जाने
भवत्पदो सम्भव यद् यजामि
वश्या स्वय ते मदमोहमाना
अनङ्गभङ्गे सति नेमिनाथ. ॥३-२२॥

व्याख्या:—हे सम्भव ! तृतीय जिनपते ! अहमिति जाने अवगच्छामि । अत्र मे मम संसारपारोऽजनि भवसमाप्तिर्बभूव यद् यस्मात्कारणात् भवत्पदौ त्वच्चरणौ यजामि पूजयामि । अथापरार्धव्याख्या—हे नेमिनाथ ! द्वाविंशतितमजिन ! अनङ्गभङ्गे कामजये सति मदमोहमाना. स्वयमात्मना वश्याः वशत्वं ययुरित्यर्थ. ॥३-२२॥

अर्थ:—हे सम्भवनाथ ! चूँकि मैं आपके चरणों की पूजा करता हूँ । इससे मुझे ऐसा ज्ञात होता है कि मैं संसार से पार हो गया हूँ, मेरी भवसमाप्ति हो गई है । हे नेमिनाथ ! कामदेव के जीते जाने पर मद मोह और मान स्वयं ही वशवर्ती हो गए है ॥ ३-२२ ॥

भिदेलिमैना अभिनन्दनेन
नन्द त्वमङ्घ्री तव पूजयामि
दया दरिद्रेऽपि नृपे समाना
न मे कथं ते मयि सा न नाथ ॥४-२१॥

व्याख्या:—हे अभिनन्दनेन हे अभिनन्दनस्वामिन् ! त्वं नन्द समृद्धिं भज । किं विशिष्टस्त्वम् ? भिदेलिमैना भिदेलिमानि भेदेन निर्वृतानि एनांसि पापानि यस्य स तथा । विसर्गलोपे सन्धिनिषेधः । तथाऽहं तव भवतः अङ्घ्री पादौ पूजयामि अर्चयामि इति । अथोत्तरार्धव्याख्या—हे नमिनाथ ! एकविंशतितम जिनेन्द्र ! नाथ स्वामिन् ! ते तव दया कृपा नृपे राज्ञि दरिद्रेऽपि समाना तुल्या वर्तते । तर्हि सा दया मयि विषये कथं न । यदि सा दया

ायि विषये भवति । तदाऽहं तया संसारवासान् मुक्तो भवामीत्यर्थः ॥४-२१॥

अर्थ.—हे विनष्टपापस्वामिन् अभिनन्दन ! मैं आपके चरण पूजता हूँ। आप समृद्धि को प्राप्त हो। हे नमे हे नमिनाथ ! आपकी दया कृपा राजा और दरिद्र दोनो के प्रति समानरूप से वर्तती है; फिर मेरे ऊपर वह क्यो नही है। यदि वह दया मुझ पर होवे तो मैं ससारवास से मुक्त हो जाऊँ ॥४-२१॥

श्रीखण्डवत्तापहरा शिवश्री
सुखायगीस्ते सुमते प्रजासु
महस्तु ते सुव्रत देव तीव्र
तिरस्क्रिया कृत्तमसोऽपि तात ॥५-२०॥

व्याख्या:—हे सुमते पञ्चमजिनपते ! ते तव गीर्वाणी प्रजासु लोकेषु शिवश्रीसुखाय मोक्षलक्ष्मीशर्मणे वर्तते । किं विशिष्टा गीः ? तापहरा बाह्याभ्यन्तरसन्तापापहारिणी किंवत् श्रीखण्डवत् चन्दनवत् । अथोत्तरार्ध व्याख्या—तु पुनरर्थे ! हे सुव्रत स्वामिन् ते तव महस्तेजोऽपि तमसः पाप्मनः तीव्रतिरस्क्रियाकृत् अत्यर्थं तिरस्कार कारि किं पुनस्तव दर्शनमिति ज्ञेयं । हे तात ! हे जगत्पितः । इत्यामन्त्रण सुव्रतस्येत्यर्थः ॥५-२०॥

अर्थ:— हे सुमते श्री सुमतिजिन ! चन्दनकी तरह ताप को हरनेवाली आपकी वाणी प्रजाजनो मे मोक्षलक्ष्मी के सुख का प्रादुर्भाव करानेवाली है और हे जगत्पिता श्री सुव्रतदेव ! आपका

होज भी अन्धकार का (पाप का) सम्पूर्ण तिरस्कार करती जाती है
फिर दर्शन की बात ही क्या है ! ॥५-२०॥

पद्मप्रभाधिपमहाक्षियुग्म
घस्मर मुदेऽस्तु स्थिरपक्ष्मवल्लि
प्रभो प्रभा ते भुवि दीव्यमाना
अभजद्यमीत्व जिन मल्लिनाथ ॥६-१६॥

व्याख्या:— हे पद्मप्रभ ! पद्म जिनपते ! ते तव अक्षिद्वन्द्वं लोचनयुगल मुदेऽस्तु प्रमोदाय भवतु । कथम्भूतं ? अंहसा पापाना घस्मर भक्षणशील पुन। कथम्भूत ? स्थिरपक्ष्मवल्लि स्थिरा निश्चला पक्ष्मवल्ली पक्ष्मलता यस्यतत्तथाध्यानस्तिमितत्वान्निश्चलपक्ष्मलताकमित्यर्थ अथोत्तरार्धव्याख्या-हे प्रभो ! हे स्वामिन् ! मल्लिनाथ जिन ! ते तव प्रभा कान्तिर्भुवि पृथिव्या दीव्यमाना इतस्ततो दीव्यन्ती यमीत्व यमुनात्वमभजदशिश्रियत् । नीलवर्णत्वाद् यमुनाप्रवाहानुकारं चकारेत्यर्थः ॥

अर्थ:— हे पद्मप्रभ ! (ध्यानावस्था मे) पलको की चचलता से रहित पापो की भक्षणशीलता को लिए हुए आपके दोनो ही नेत्र वडे आनन्ददायक है और हे स्वामिन् मल्लिनाथ जिन ! पृथिवी पर कुछ दीप्यमान होती हुई आपकी प्रभाकान्तिने यमुना के भाव को धारण किया है, नीलवर्ण होने से यमुना के प्रवाहको अनुकरण किया है ॥६-१६॥

श्रीमान्सुपार्श्वोऽपि हि निस्तमा अ
सुमत्सुख देशनया चकार
पारङ्गतः पातकवल्लरीव
श्वंग जन चारपतिः पुनातु ॥७-१८॥

व्याख्या:— श्रीमान् तीर्थंकरलक्ष्मीवान् सुपार्श्वः सप्तमो जिन. निस्तमा निर्मोहोऽपि हि निश्चयेन देशनया धर्मोपदेशदानेन असुमत्सुख सर्वप्राणिसौख्य चकार कृतवानित्यर्थ अथोत्तरार्ध व्याख्या-च समुच्चये। अरपतिररनाथो जन लोक पुनाति पवित्र-यति। कथभूतोऽरपति पारङ्गत ससार समुद्रपार प्राप्तः अपर कथभूत· पातकवल्लरी पर्श्वग्र पातकान्येव वल्लर्यः पर्शोरग्र पर्श्वग्र, पातकवल्लरीणा पर्श्वग्र पापलताकुठाराग्र। इदमाविष्ट-लिङ्गमित्यर्थ ॥७-१८॥

अर्थः – श्री सुपार्श्व ने निर्मोह होते हुए भी निश्चय से अपनी देशना द्वारा धर्मोपदेश देकर सर्वप्राणियो के सुखका विधान किया है तथा ससार-समुद्र से पार होते हुए, पापलता के लिए कुठाराग्र के समान अरपति (अरनाथ) लोक को पवित्र करते है॥७-१८॥

चन्द्रप्रभाणोर्हर मेऽद्यशङ्कुं
दृष्टास्मि हृत्तो समकुम्भिकुंथ्थ
प्रवालता मुञ्चति नाप्यय त्वा
भक्तः सुवर्णे त्वयि कुन्थुनाथ ॥८-१७॥

व्याख्या —हे चन्द्रप्रभ अष्टमजिनपते! त्व मे- मम अणो-र्दुर्बलस्य अद्य शकु पापशका (शल्य) हर उद्धर। यतोऽस्म्यहं ते तव हृच्चेतः समकुम्भिकुन्थु दृष्टाऽवलोकयिता कुम्भीच कुन्थुश्च कुम्भिकुन्थू समौ निर्विशेष स्थितौ कुम्भिकुन्थू यत्र तत्तथा। किमुक्तं भवति—भगवन्! तव कुम्भिनि कुञ्जरे कुन्थौ च सूक्ष्मजीवविशेषे

अर्थ—हे मोहमल्ल को जीतनेवाले शीलधनेश्वर श्री शीतल ! मैं आपसे जिनराज के सुखकी याचना करता हूं और हे धर्मनाथ ! आपके स्वरूपको वीतरागता को हृदयमे धारण करने वाले जीव आपमे लयको प्राप्त होते हैं ॥१०-१५॥

श्रीवत्सिनि श्रीर्हृदि तावके श्री
श्रेयांस ! सक्ता नितरामहो अ
स्यां मे निजा देहि वदान्यदीनं
समीक्ष्य वीराग्रिम मामनन्त ॥११-१४॥

व्याख्या—अहो इति सम्बोधने ! श्री श्रेयाश एकादश जिनपते ! अः विष्णुः, अ इव अः ! लुप्तोपमत्वाद्विष्णूपमः । तस्य सम्बोधन । अहो अ ! अहो श्रेयास विष्णो ! ओदन्तनिपातत्वादसन्धिः तावके भवदीये हृदि हृदये श्रीर्लक्ष्मीः नितरामतिशयेन सक्ता आसक्ता वर्तते । कि विशिष्टे हृदि ! श्री वत्सिनि श्रीवत्सयुक्ते ! अथापरार्धव्याख्या—हे अनन्तचतुर्दशजिन ! वीराग्रिम युद्धदानधर्मवीरशिरोमणे ! वदान्य ! दानशूर प्रियवाक्य ! इमानि त्रीण्यामन्त्रणपदानि । मा दीन दुःस्थ समीक्ष्य (वीक्ष्य) विलोक्य मे मह्यं निजा स्वा या लक्ष्मी देहि वितरेत्यर्थः ॥११-१४॥

अर्थः— अहो श्री श्रेयास विष्णु ! आपके श्रीवत्सलाञ्छन से युक्त हृदय मे लक्ष्मी अत्यन्त आसक्त होकर रहती है और हे वीराग्रिम (वीरशिरोमणे) वदान्य (दानशूरप्रियवाक्य) श्री अनन्त ! मुझे दीन देखकर आप अपनी मुक्तिलक्ष्मी मुझे प्रदान कीजिए ॥११-१४॥

वाग्वासुपूज्यागमिकी श्रुति श्री
सुख कपन्ती भवताभ्यसा वि
पूर्णा ममाशा विमलाद्य ना म्न
ऽज्यया सम लीन शिरोननोऽस्ति ॥१२-१३॥(ल)

व्याख्या.— हे वासुपूज्य द्वादशजिनपते ! आगमिकी आगामिसम्वन्धिनी वाग्वाणी भवता त्वया अभ्यसाधि (वि) अभिसुपुवे। किं कुर्वती ? श्रुति-श्रीसुख कपन्ती वेदलक्ष्मीसुख विनाशयन्ती वेदमार्गोच्छेदिकेत्यर्थ । अथोत्तरव्याख्या-नाम सम्बोधने ! हे विमल ! त्रयोदश जिनपते ! अद्य ममाशा पूर्णा मनोरथोऽपूरि अइ ज्यया पृथिव्या सम लीन शिरो यथा भवति। एवमलमत्यर्थ नतोऽस्मि क्षितितलनिहितोत्तमाङ्ग. यथा भवति एव प्रणतोऽस्मि ॥१२-१३॥

अर्थः— हे वासुपूज्य ! श्रुतिश्री के सुख का विनाश करती हुई वेदमार्ग की उच्छेदिका आगमिकी (आगामि सम्वन्धिनी) वाणी आपके द्वारा सिखाई गई है। हे श्री विमल ! आज मेरी आशा पूर्ण हो गई है। मैंने पृथ्वी के साथ लीन सिर होकर पृथ्वीतल पर रख कर आपको नमस्कार किया है॥१२-१३॥

विग्रमस्य वसुधके द्व (द्वि) तीया तु ईपु (या ईर्दे) सिता ॥
तदाऽकलङ्कदेवेन चित्रकाव्यम् निर्मित्ता (त्) म् ॥
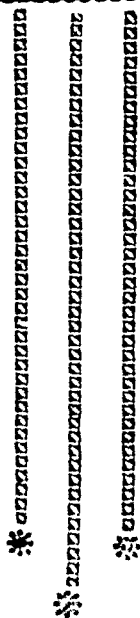
आत्म-प्रसून

* ॐ नमः सिद्धेभ्यः *

आत्म-प्रसून

[१]

तुभ्यं नमः परमचिन्मयविश्वकर्त्रे,
तुभ्यं नमः परमचिन्मयविश्वभोक्त्रे ।
तुभ्यं नमः परमचिन्मयविश्वभर्त्रे
तुभ्यं नमः परमकारणकारणाय ॥

अर्थ :—परिपूर्ण चित्स्वभाव कर्ता के लिए नमस्कार हो। निखिल चित्स्वभाव भोक्ता के लिए नमस्कार हो। परम चैतन्य स्वभाव के अधिपति को नमस्कार हो। उत्कृष्ट कारणो के साधन को नमस्कार हो।

[२]

निरामयोऽनन्तसुखस्वरूपः, सदा चिदानन्दमयो ममात्मा
व्याध्यादिमुक्तोऽखिलदुःखदूरः, चिन्मात्रमूर्तिर्भुवि निर्विकारी।

शुद्धः प्रबुद्धो विमलो विरागी, ब्रह्मस्वरूपी समशान्तिशीलः
समस्तसङ्कल्पविकल्पभेदी, शान्त्यर्थमेवापि च चिन्त्यते हि ।

अर्थ —इस पृथ्वी तल पर मेरी आत्मा का शुद्ध स्वरूप समस्त रोगों से रहित है, अनन्त सुख स्वरूप है, सदाकाल चिदानन्द रूप है, समस्त आधि व्याधियों से रहित है दुःखों से रहित है, चिन्मात्र मूर्ति और निर्विकारी है, शुद्ध है, प्रबुद्ध है, निर्मल है, वीतरागी है, ब्रह्मस्वरूपी है, समता और शान्ति से सुशोभित है तथा समस्त सङ्कल्प-विकल्पों को नष्ट करने वाला है, ऐसा यह मेरा आत्मा अपने आप से परमशान्ति प्राप्त करने के लिए अपने ही आत्मा के द्वारा चिन्तन किया जाता है।

[३]

कर्मणा त्रिविधेनात्मा मुक्तो मे ज्ञानभास्करः
निराकारो निराहारी निरञ्जनो निराकृतिः ।
शुद्धचिद्रूपमूर्तिश्च स्वात्मसाम्राज्यनायकः
भव्यैः शान्त्यर्थमेवापि चिन्त्यः सदेति चेतसि ॥

अर्थ — यह मेरा आत्मा त्रिविध कर्मों से रहित है, ज्ञानमय सूर्य है, निराहारी है, निरंजन है, आकृति विशेष से रहित है शुद्ध चैतन्य स्वरूप मूर्ति का धारण करने वाला है और अपने शुद्ध स्वरूप साम्राज्य का स्वामी है। ऐसा यह आत्मा समस्त भव्य [illegible] को अपने हृदय में अनन्त शान्ति प्राप्त करने के लिए [illegible] चिन्तन करते रहना चाहिए।

[४-५-६]

संसारहर्ताऽखिलविश्वनेता, स्वभावलीनः परभावभिन्नः ।
आल्हादकारी भवतापहारी पापप्रणाशी वरपुण्यदर्शी ॥
अज्ञानहारी स्वपरप्रकाशी, विज्ञानज्योतिर्विकथाविनाशी ।
लक्ष्मीपतिर्ज्ञाननिधिर्विरोगी जगज्जयी कल्मषकोशहर्ता ॥
स्वात्मास्ति मे धर्मपतिर्हितैषी निरामयो वा भुवि निष्कलंक ।
शान्तो विपात्मा विमदोऽपि वर्यो व्यक्तोऽपि गुप्तो महितोमहान् हि॥

अर्थ —यह मेरा आत्मा जन्म-मरण रूप ससार को हरण करने वाला है, समार का नेता है, स्वस्वभाव मे लीन और पर-भावो से भिन्न है, आह्लादकारी है, ससार के ताप को नाश करने वाला है, पापो का नाश और श्रेष्ठ पुण्य को दर्शाने वाला है, अज्ञान हर्ता है, स्व और पर के स्वरूप को प्रकाशित करने वाला है, विज्ञान की ज्योति स्वरूप है, विकथाओ का नाशक और लक्ष्मी का स्वामी है, ज्ञान का भन्डार है, राग रहित है, त्रैलोक्य विजयी है, पापो के भन्डार का हर्ता है, धर्म का स्वामी है, सर्व जीवो का हितैषी है, रोगो से रहित है, कलङ्क से रहित है, शान्त है, पाप रहित है, मद रहित है, सर्वोत्कृष्ट है, व्यक्त होकर भी गुप्त है पूज्य और महान है ।

[७]

महोदयो धर्मदिवाकरोऽहं, यथार्थदृष्ट्या भवपारकर्ता ।
शान्तो महात्मा परमप्रसन्नः, क्षेमी क्षमः क्षेमपतिर्दमीशः ॥

प्रसन्न करने वाला है, श्रेष्ठधर्म का सार है, समस्त दीन-संसारी जीवों का बन्धु है, धर्म का उपदेशक है, मोक्षमार्ग का निरूपक है, सुख और शान्ति का स्वामी है, अपने आत्मा की शुद्धता रूप स्व-राज्य का कर्ता है और निरन्तर अपने ही स्वभाव मे लीन रहने वाला है।

[६]

**योगी कृतार्थी च जगत्प्रसिद्धः स्वानन्दकन्दः कृतकृत्य एव।
प्रजापतिः सौख्यशिखामणिश्च, चारित्रचूड़ामणिरेव शुद्धः॥
स्वानन्दसाम्राज्यपदाधिकारी, ह्याद्यन्तमध्यादिविवर्जितश्च,
गुणाकरो धर्मशिरोमणिश्च, त्रिरत्नधारी त्रिविकारहारी॥**

अर्थ —यह मेरा आत्मा योगी है, कृतार्थी है, जगत्प्रसिद्ध है, आत्मजन्य आनन्द का कन्द है, कृतकृत्य है, अपने सुख का रचयिता होने से प्रजापति है, अनन्त शान्तिवान होने से सौख्य-शिखामणि है, चारित्र चूडामणि है, शुद्ध है, अपने आत्मजन्य साम्राज्य का स्वयं अधिकारी है, यह मेरा आत्मा अनादि काल से विद्यमान है और अनन्तानन्त काल तक रहेगा अतएव आदि अन्त और मध्य से रहित है, आत्मगुणों का सागर है, सर्वोत्कृष्ट धर्म स्वरूप होने से धर्मशिरोमणि है, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का स्वामी होने से त्रिरत्नधारी है और द्रव्यकर्म, भावकर्म तथा नोकर्म इन तीनों कर्मों-विकारों से रहित होने के कारण त्रिविकारहारी है। इस प्रकार यह शुद्ध चिदानन्द स्वरूप मेरा आत्मा सर्वोत्कृष्ट गुणों को धारण करने वाला है।

पूर्वोक्त धर्मेण विराजितोऽस्मि तथा स्वसंवेदनतो हि गम्यः ।
वाक्कायचित्तैश्च निजात्मना वा शान्त्यर्थमेवं भुवि चिन्तनीयः ॥

अर्थ :—यह मेरा आत्मा क्षमा का स्वामी है, ज्ञान सूर्य है, इन्द्रिय दमन करने वालो मे सर्व श्रेष्ठ है, कर्म शत्रुओ का विजेता है, स्वराज्य प्रदाता है, अपने आत्मानन्द रूपी साम्राज्य का विभु है, यह आत्मा ससार के समस्त प्राणियो को अपने समान सम कर सब पर कृपा धारण करता है, अत कृपा का ईश है, शरी रादि से सर्वथा भिन्न है, अत दिगम्बर है, अनन्त गुणो को धारण करता है, अत अनन्त गुणात्मक है, इस प्रकार पूर्वोक्त अनेक गु धर्मों से सुशोभित होने वाला मेरा यह आत्मा किन्ही इन्द्रियो नही जाना जाता किन्तु स्वसवेदन से ही जाना जाता है अर्थात् अप आत्मा के स्वय के अनुभव से ही यह जाना जाता है । इस प्रका यह आत्मा परमशान्ति प्राप्त करने के लिए मन वचन काय वा अपने आत्मा के द्वारा सदाकाल चिन्तवन करने योग्य है ।

[१३]

स्वानन्दधारी भवभीतिहारी मायानिवारी मदनप्रहारी ।
स्वराज्यकारी स्वसुखप्रसारी सम्पूर्णसाम्राज्यपदाधिकारी ॥
समस्त संकल्पविकल्पहारी वाद्यन्तमध्यादिनिदूरकारी ।
पूर्वोक्त धर्मेण युतश्चिदात्मा ग्राह्यः स्वसंवेदनतश्च गम्यः ॥

जो आत्मा अपने आत्मजन्य आनन्द को धारण करने वाला है, संसार के जन्ममरणादिरूप भय को हरण करने वाला है,

मायाचारी से सर्वथा दूर रहने वाला है, कामदेव को नष्ट करने वाला है, अपने आत्मा की शुद्धतारूप स्वराज्य को धारण करने वाला है, आत्मजन्य सुख को फैलाने वाला है, मोक्षरूप समस्त साम्राज्य के पद का अधिकारी है, जो समस्त सकल्प विकल्पो से रहित है और आदि, मध्य एव अन्त से रहित है, जो चैतन्य स्वरूप आत्मा इन ऊपर लिखे हुए धर्मों से सुशोभित है, वही शुद्ध आत्मा ग्रहण करने योग्य है और ऐसा आत्मा अपने स्वसवेदन से ही जाना जाता है।

[१४]

ज्ञाता द्रष्टा जगत्साक्षी तत्त्वतो दोषदूरगः ।
स्वपरवस्तुनः स्वात्मा प्रदीपवत्प्रकाशकः ॥

अर्थ —परमार्थत. मेरा आत्मा समस्त पदार्थों को जानने वाला और देखने वाला है, तीनो लोको को प्रत्यक्ष देखने जानने वाला है, तत्त्वदृष्टि से देखने पर रागादि समस्त दोषो से रहित है और दीपक के सदृश अपने स्वरूप को तथा पर पदार्थो को प्रकाशित करने वाला है।

[१५]

ज्ञेयोऽपि ज्ञायकोऽप्यात्मा स्वपरबोधनात्मदा ।
दृष्टा दृश्यस्ततः स्वात्मान्यवस्तुव्यवहारतः ॥

अर्थ .—यह मेरा आत्मा अपने स्वरूप को भी जानता है, समस्त पदार्थों के स्वरूप को भी जानता है, इसलिए

[३७]

सुण्णो णेय असुण्णो णोकम्मो कम्मवज्जिओ णाणं ।
अण्णो ण मज्झ सरणं सरणं सो एक्क परमप्पा ॥

अर्थ :—आत्मा रूप, रस, गन्ध और स्पर्श से रहित होने के कारण शून्य रूप तथा ज्ञानमय आत्मस्वरूप होने के कारण शून्य रूप नही भी है । उस परमात्मा का ज्ञान नोकर्मों से भी रहित है और ज्ञानावरणादिक कर्मों से भी रहित है, ऐसा वह आत्मा मुझे शरणभूत है, उसके सिवा अन्य कोई शरण नही है ।

[३८]

णाणउ जो ण भिण्णो वियप्पभिण्णो सहावसुक्खमओ ।
अण्णो ण मज्झ सरणं सरणं सो एक्क परमप्पा ॥

अर्थ —जो आत्मा अपने ज्ञान से कभी भिन्न नही होता परन्तु सब तरह के विकल्पो से वह सदा भिन्न रहता है, और स्वाभाविक सुखस्वरूप है, ऐसा आत्मा ही मुझे शरण है, ऐसे परमात्मा के सिवा अन्य कोई शरण नही ।

[३९]

अच्छिण्णोवच्छिण्णो पमेय रूवत्त गुरुलहू चेव ।
अण्णो ण मज्झ सरणं सरणं सो एक्क परमप्पा ॥

अर्थ —जो कभी किसी प्रकार छिन्न भिन्न नहीं होता, जो [illegible] स्वरूप है, तथा सर्वोत्कृष्ट है, और [illegible]

है। अथवा असंख्यात प्रदेशमय है, समस्त पदार्थों का ज्ञाता है और अगुरुलघु गुण से सुशोभित है, ऐसा आत्मा ही मुझे शरण है, अन्य कोई शरण नही है।

[४०]

सुहअसुहभावविगओ सुद्धसहावेण तम्मयं पत्तो।
अण्णो ण मज्झ सरणं सरणं सो एक्क परमप्पा ॥

अर्थ —जो शुभ भाव और अशुभ भाव दोनो से रहित है और शुद्ध स्वभाव मे तन्मय है, ऐसा आत्मा ही मुझे शरण है, अन्य कोई शरण नही है।

[४१]

णो इत्थी ण णउंसो णो पुंसो णेव पुण्णपावमओ।
अण्णो ण मज्झ सरणं सरणं सो एक्क परमप्पा ॥

अर्थ :—जो न स्त्री है, न नपुंसक है, न पुरुष है, और न पुण्य पाप स्वरूप ही है, ऐसा आत्मा ही मुझे शरण भूत है, अन्य कोई भी शरण नही है।

[४२]

आत्मन्येवात्मनात्मायं स्वयमेवानुभूयते ।
अतोऽन्यत्र मां ज्ञातुं प्रयासः कार्यनिष्फलः ॥

अर्थ—यह आत्मा आत्मा मे ही आत्मा के द्वारा स्वयमेव अनुभव किया जाता है, इसमे अन्यत्र आत्मा के जानने का जो [illegible] कार्य निष्फल है। इस प्रकार जाने।

नही है तथा सम्पूर्ण पदार्थों को सर्व प्रकार से जानता है, वही अपने द्वारा ही अनुभव मे आने योग्य चैतन्य द्रव्य मैं हू।

[४९]

येनात्मनानुभूयेऽहमात्मनैवात्मनात्मनि ।
सोऽहं न तन्न सा नासौ नैको न द्वौ न वा बहुः ॥

अर्थ —जिस चैतन्य स्वरूप से मैं अपनी आत्मा मे ही अपने स्वसवेदन ज्ञान के द्वारा अपनी आत्मा को आप ही अनुभव करता हू, वही शुद्धात्म स्वरूप मैं न तो नपु सक हू, न स्त्री हू, न पुरुष हू, न एक हू, न दो हू और न बहुत हू।

[५०]

यः परात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्ततः ।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदितिस्थितिः ॥

अर्थ —जो परमात्मा है, वही मै हू तथा जो स्वानुभवगम्य मै हू, वही परमात्मा है, इसलिए मै ही मेरे द्वारा उपासना किये जाने योग्य हू, दूसरा कोई मेरा उपास्य नही। निश्चयनः इस प्रकार ही आराध्य और आराधक भाव की व्यवस्था है।

[५१]

यत्पश्यामीन्द्रियैस्तन्मे नास्ति यन्नियतेन्द्रियः ।
अन्तः पश्यामि सानन्दं तदस्तु ज्योतिरुत्तमम् ॥

अर्थ —जो कुछ शरीरादि बाह्य पदार्थ मैं इन्द्रियों के

द्वारा देखता हूं, वह मेरा स्वरूप नही है, किन्तु इन्द्रियों को बाह्य विषयो से रोक कर स्वाधीन करता हुआ जिस उत्कृष्ट अतीन्द्रिय आनन्द मय ज्ञान प्रकाश को अन्तरग मे देखता हू—अनुभव करता हू, वही मेरा वास्तविक स्वरूप है ।

[५२]

गौरः स्थूलः कृशो वाहमित्यङ्गेनाविशेषयन् ।
आत्मानं धारयेन्नित्यं केवलज्ञप्तिविग्रहम् ॥

अर्थ —मैं गोरा हू, मोटा हू, अथवा दुबला हू, इस प्रकार शरीर के साथ अपने को एक रूप न करते हुए, सदा ही अपनी आत्मा को केवलज्ञान स्वरूप अथवा रूपादि रहित उपयोग शरीरी अपने चित्त मे धारण करे ।

[५३]

स्वसंवेदनसुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः ।
अत्यन्त सौख्यवानात्मा लोकालोकविलोकनः ॥

अर्थ —यह आत्मा स्वसवेदन का विषय है, शरीर प्रमाण है, द्रव्य दृष्टि से नित्य है, अत्यन्त सुख स्वरूप है, और लोक अलोक का साक्षात् करने वाला है ।

[५४]

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः ।
बाह्याः संयोगजा भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा ॥

अर्थ :—मैं एक हूं, ममता रहित हू, शुद्ध हू, ज्ञानी योगीन्द्रो के ज्ञान का विषय हू, इनके सिवाय सयोग लक्षण वा स्त्री, पुत्र, गुरु और शिष्यादि अन्य वैभवादि सर्व बाह्य पदा मेरी आत्मा से सर्वथा भिन्न है।

[५५]

न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा ।
नाहं बालो न वृद्धोऽहं न युवैतानि पुद्गले ॥

अर्थ —जिस जीव को अपने चिदानन्द स्वरूप निश्चय हो जाता है वह सोचता है कि चैतन्य स्वभावी मेरे द प्राणो के परित्याग रूप मरण नही है और जब मरण नही तब भय भी नही है। मुझे कोई व्याधि नही है और जब व्या ही नही है, तब मुझे वेदना कैसे हो सकती है ? इसी प्रकार बा वृद्ध और युवा आदि अवस्थाएं भी पुद्गल मे होती है, इसलि इन अवस्था रूप भी मैं नही हू ।

[५६]

दृढः स्थूलः स्थिरो दीर्घो जीर्णः शीर्णो लघुर्गुरुः ।
वपुषैवमसम्बंधन्नस्वं विन्याद्वेदनात्मकम ॥

अर्थ —शरीर सहित मैं दृढ हू, मोटा हू, स्थिर हू, दी हू, जीर्ण हू, शीर्ण हू, हल्का हू और भारी हू, इस प्रकार आत को शरीर सहित सम्बन्ध रूप नही करता हुआ, पुरुष ही आत को ज्ञानस्वरूप अनुभव करता है ।

[५७]

नयत्यात्मानमात्मैव, जन्मनिर्वाणमेव च ।
गुरुरात्मात्मनस्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थतः ॥

अर्थ —आत्मा ही आत्मा को देहादिक में दृढात्मभावना के कारण जन्म मरण रूप संसार में भ्रमण करता है और आत्मा में ही आत्मबुद्धि के प्रकर्ष वश मोक्ष प्राप्त कराता है, इसलिए निश्चय से आत्मा का गुरु आत्मा ही है अन्य कोई गुरु नहीं है ।

[५८]

स्वस्मिन्सदाभिलाषित्वादभीष्टज्ञापकत्वतः ।
स्वयं हितप्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरुरात्मनः ॥

अर्थ —परमार्थतः आत्मा ही आत्मा का गुरु है, क्योंकि वही अपने में 'मुझे मोक्ष सुख मिले' इस अभिलाषा से सदा मोक्ष सुख की अभिलाषा करता है और अपने में ही 'मुझे अभीष्ट मोक्ष सुख का ज्ञान करना चाहिए' इस रूप से मोक्ष सुख का बोध करता है और वह मोक्ष सुख ही परम हितकर है, इसलिए वह उसकी प्राप्ति में अपने आपको लगाता है, अतः आप ही अपना गुरु है अन्य नहीं ।

[५९]

आत्मात्मना भवं मोक्षमात्मनः कुरुते यतः ।
अतो रिपुर्गुरुश्चायमात्मैव स्फुटमात्मनः ॥

अर्थ —यह आत्मा अपने ही द्वारा अपने संसार को करता है, और अपने द्वारा आप ही अपने लिए मोक्ष करता है, इस कारण आप ही अपना शत्रु है, और आप ही अपना गुरु है, यह प्रकटतया जानो, पर तो निमित्त मात्र है।

[६०]

अकिञ्चनोऽहमित्यास्स्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः ।
योगिगम्यं तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः ॥

अर्थ —हे भव्य ! तू 'मेरा कुछ भी नहीं है' ऐसी भावना के साथ स्थित हो। ऐसा होने पर तू तीन लोक का स्वामी हो जायगा। यह तुझे परमात्मा का रहस्य बतला दिया है, जो केवल योगियों के द्वारा ही अनुभव करने योग्य है।

[६१]

नाहं कस्यचिदस्मि कश्चन न मे भावः परो विद्यते ।
मुक्त्वात्मानमपास्तकर्मसमितिं ज्ञानेक्षणालङ्कृतिम् ।
यस्यैषा मतिरस्ति चेतसि सदा ज्ञातात्मतत्त्वस्थिते-
र्बन्धस्तस्य न मन्त्रितस्त्रिभुवनं सांसारिकैर्बन्धनैः ॥

अर्थ —मैं तो ज्ञान नेत्रों से अलंकृत व सर्व कर्म-समूह से रहित एक आत्म द्रव्य हूँ। इसके सिवाय कोई परद्रव्य या पर-भाव मेरा नहीं है, न मैं किसी का सम्बन्धी हूँ। जिस आत्मीय तत्व के ज्ञाता के भीतर ऐसी निर्मल बुद्धि सदा रहती है, उसका सांसारिक बन्धनों से बन्धन तीन लोक में कहीं भी नहीं [illegible]

[६२]

सद्द्रव्यमस्मि चिदहं ज्ञाता द्रष्टा सदाप्युदासीनः ।
स्वोपात्तदेहमात्रस्ततः पृथग्गगनवदमूर्तः ॥

अर्थ —मैं सत् भाव द्रव्य हूं, चैतन्य मय हूं, ज्ञाता दृष्टा हूं। सदा ही वैराग्यवान् हूं। यद्यपि शरीर प्रमाण हूं, तो भी शरीर से भिन्न हूं और आकाश के सदृश अमूर्तिक हूं।

[६३]

परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जो केवली मुणी णाणी ।
तम्हि ठिदा सहावे मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥

अर्थ —निश्चय नय से आत्मा ही एक परम पदार्थ है, वही अपने स्वभाव में एक ही काल परिणमन करने से व जानने से समय है, वही एक ज्ञानमय निर्विकार होने से शुद्ध है, वही स्वतन्त्र चैतन्यमय होने से केवली है, वही मनन मात्र होने से मुनि है और वही ज्ञानमय होने से ज्ञानी है। जो मुनिगण ऐसे अपने ही आत्मा के स्वभाव में स्थिर होते हैं, आत्मस्थ होते हैं, वे ही निर्वाण को प्राप्त करते हैं।

[६४]

दुट्ठट्ठकम्मरहियं अणोवमं णाणविग्गहं णिच्चं ।
सुद्धं जिणेहिं कहियं अप्पाणं हवइ सद्दव्वं ॥

अर्थ :—दुष्ट आठो कर्मों से रहित, अनुपम ज्ञानशरीरी, नित्य और शुद्ध अपना आत्मा ही स्वद्रव्य है ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

[६५]

जे परमप्पा सो नि हउं जो हउं सो परमप्पु ।
इउ जाणे विणु जोइआ अण्णु म करहु वियप्पु ॥

अर्थ :—हे योगी ! जो परमात्मा है वही मैं हूँ, तथा जो मैं हूँ, वही परमात्मा है, ऐसा जानकर अन्य कुछ भी विकल्प मत कर।

[६६]

तथा हि चेतनोऽसंख्यप्रदेशो मूर्तिवर्जितः ।
शुद्धात्मा सिद्धरूपोऽस्मि ज्ञानदर्शनलक्षणः ॥

अर्थ —यह मेरा आत्मा चेतन है, असंख्यातप्रदेशी है, वर्णादि मूर्ति रहित है, शुद्ध स्वरूपी है सिद्ध के समान है और ज्ञान दर्शन लक्षणवाला है।

[६७]

अप्पा चरित्तवंतो दंसण णाणेण संजुदो अप्पा ।
सो झायव्वो णिच्चं णाऊणं गुरुपसाएण ॥

अर्थ —यह आत्मा दर्शन ज्ञान सहित है, वीतराग चारित्रवान् है, इसको गुरु के प्रसाद से जानकर सदा ध्याना चाहिये।

[६८]

सुद्धु सच्चेयणु बुद्धु जिणु केवलणाणसहाउ ।
सो अप्पा अणुदिणु मुणहु जइ चाहउ सिवलाहु ॥

अर्थ —यदि मोक्ष का लाभ चाहते हो तो रात दिन उस आत्माका मनन करो जो शुद्ध है, जो स्वय बुद्ध है, चेतना गुणधारी है, संसार विजयी है और जो मात्र (केवल) ज्ञान स्वभाव का धारी है।

[६९]

पुरिसायार-पमाणु जिय अप्पा एहु पवित्तु ।
जोइज्जइ गुण-गण-णिलउ णिम्मल-तेय फुरंतु ॥

अर्थ —हे जीव! उस अपने आत्मा को पुरुषाकार प्रमाण, पवित्र गुणों की खान और निर्मल तेज से प्रकाशमान देखना चाहिये।

[७०]

आयातेऽनुभवं भवारिमथने निर्मुक्तमूर्त्याश्रये
शुद्धेऽन्याद्यशि सोमसूर्यहुतभुक्कान्तेरनन्तप्रभे ।
यस्मिन्नस्तमुपैति चित्रमचिरान्निःशेषवस्त्वन्तरम्
तद्वन्दे विपुलप्रमोदसदनं चिद्रूपमेकं महः ॥

अर्थ —आत्मा का जो चैतन्यरूप तेज संसार रूपी शत्रुको [illegible] करता है, अमूर्तिक है, शुद्ध है, अनुपम है तथा सूर्य चन्द्र एवं

अग्नि की प्रभा की अपेक्षा अनन्तगुणी प्रभा से संयुक्त है, उस चैतन्य रूप तेज का अनुभव प्राप्त हो जाने पर आश्चर्य है कि अन्य समस्त पर पदार्थ शीघ्र ही नष्ट हो जाते है, अर्थात् उनका फिर विकल्प नही रहता। अतिशय आनन्द को उत्पन्न करने वाले उस चैतन्य रूप तेज को मैं नमस्कार करता हूँ।

[७१]

आत्मा मूर्तिविवर्जितोऽपि वपुषि स्थित्वापि दुर्लक्षताम्
प्राप्तोऽपि स्फुरति स्फुटं यदहमित्युल्लेखतः सन्ततम्।
तत्किं मुह्यत शासनादपि गुरोर्भ्रान्तिः समुत्सृज्यता-
मन्तः पश्यत निश्चलेन मनसा तं तन्मुखाक्षव्रजाः॥

अर्थ —आत्मा मूर्ति से रहित होता हुआ भी, शरीर में स्थित होकर भी तथा अदृश्य अवस्था को प्राप्त होता हुआ भी निरन्तर "अहम्" अर्थात् मैं इस उल्लेख से स्पष्टतया प्रतीत होता है। ऐसी अवस्था मे हे भव्य जीवो! तुम आत्मोन्मुख इन्द्रिय समूह से संयुक्त होकर क्यो मोह को प्राप्त होते हो? गुरु की आज्ञा से भी भ्रम को छोडो और अभ्यन्तर मे निश्चल मन से उस आत्मा का अवलोकन करो।

[७२]

यन्नान्तर्न बहिः स्थितं न च दिशि स्थूलं न सूक्ष्मं पुमान्
नैव स्त्री न नपुंसकं न गुरुतां प्राप्तं न यल्लाघवम्।

कर्मस्पर्शशरीरगन्धगणनाव्याहारवर्णोज्झितम्

स्वच्छं ज्ञानदृगेकमूर्ति तदहं ज्योतिः परं नापरम् ॥

अर्थ —मैं उस उत्कृष्ट ज्योति स्वरूप हूँ जो न भीतर स्थित है, न बाहर स्थित है, न दिशा मे स्थित है, न स्थूल है, न सूक्ष्म है, न पुरुष है, न स्त्री है, न नपुंसक है, न गुरु है, न लघु है, तथा जो कर्म, स्पर्श, शरीर, गन्ध, गणना, शब्द एव वर्ण से रहित होकर निर्मल एवं ज्ञानदर्शन रूप अद्वितीय शरीर को धारण करती है। इससे भिन्न और कोई मेरा स्वरूप नही है।

[७३]

खादिपञ्चकनिर्मुक्तं कर्माष्टकविवर्जितम् ।

चिदात्मकं परं ज्योतिर्वन्दे देवेन्द्रपूजितम् ॥

अर्थ – जो आकाश आदि पांच (आकाश, वायु, जल अग्नि और पृथ्वी) द्रव्यो (शरीर) मे तथा ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से रहित है और देवेन्द्रो द्वारा पूजित है, ऐसी उस चैतन्य स्वरूप उत्कृष्ट ज्योति को मैं नमस्कार करता हूँ ॥

[७४]

जानन्ति स्वयमेव यद्विमनसश्चिद्रूपमानन्दघन

प्रोच्छिन्ने यदनाद्यमन्दममकृत्मोहान्धकारे हठात् ।

सर्वानन्दमनारतोन्य यदसौ विश्वप्रकाशात्मकम्

तज्ज्ञायान्तरहं गुनिष्कलमहं शब्दाभिधेयं महः ।

र्थ :—जिस आत्मा को अनादिकालीन प्रचुर मोहरूप

अन्धकार के बलात् नष्ट हो जाने पर मन से रहित हुए सर्वज्ञ स्वयं ही जानते हैं, जो चैतन्य स्वरूप है, आनन्द से सयुक्त है, अनादि है, तीव्र है, निरन्तर रहने वाला है, तथा जो आश्चर्य है कि सूर्य और चन्द्रमा को भी तिरस्कृत करके समस्त जगत को प्रकाशित करने वाला है, वह 'अहम्' शब्द से कहा जाने वाला शरीर रहित स्वाभाविक तेज जयवन्त हो।

[७५]

यदव्यक्तमबोधानां व्यक्तं सद्बोधचक्षुषाम् ।
सारं यत्सर्ववस्तूनां नमस्तस्मै चिदात्मने ॥

अर्थ —जो चेतन आत्मा अज्ञानी प्राणियों के लिए अस्पष्ट और सम्यग्ज्ञानियों के लिये स्पष्ट है, तथा सर्व वस्तुओं में श्रेष्ठ है, उस चेतन आत्मा को नमस्कार हो।

[७६-७७]

क्रियाकारकसम्बन्धप्रबन्धोज्झितमूर्ति यत् ।
एवं ज्योतिस्तदेवैकं शरण्यं मोक्षकांक्षिणाम् ॥
नमस्यं च तदेवैकं तदेवैकं च मंगलम् ।
उत्तमं च तदेवैकं तदेव शरणं मताम् ॥

अर्थ —जो आत्मज्योति क्रिया, कारक और उनके सम्बन्ध के विस्तार से रहित है, वही एक मात्र ज्योति मोक्षाभिलाषी जीवों की शरणभूत है।

वही एक आत्मज्योति नमस्कार करने योग्य है, वही एक आत्मज्योति मंगल स्वरूप है, वही एक [illegible] ज्योति [illegible] है।

तथा वही एक आत्म ज्योति साधुजनो के लिए शरण भूत है।

[७८, ७९, ८०]

तदेवैकं परं रत्नं सर्वशास्त्रमहोदधेः ।
रमणीयेषु सर्वेषु तदेकं पुरतः स्थितम् ॥
तदेवैकं परं तत्त्वं तदेवैकं परं पदम् ।
भव्याराध्यं तदेवैकं तदेवैकं परं महः ॥
शस्त्रं जन्मतरुच्छेदि तदेवैकं सतां मतम् ।
योगिनां योगनिष्ठानां तदेवैकं प्रयोजनम् ॥

अर्थः—समस्त शास्त्ररूपी महासमुद्र का उत्कृष्ट रत्न वही एक आत्मज्योति है, तथा वही एक आत्मज्योति सर्व रमणीय पदार्थों मे श्रेष्ठ है।

वही एक आत्मज्योति उत्कृष्ट तत्त्व है, वही एक आत्मज्योति उत्कृष्ट पद है, वही एक आत्म ज्योति भव्य जीवो के द्वारा आराधन करने योग्य है, तथा वही एक आत्मज्योति उत्कृष्ट तेज है।

वही एक आत्मज्योति साधु जनो के लिए जन्म रूपी वृक्ष का नष्ट करने वाला शस्त्र माना जाता है, तथा समाधि में स्थित योगीजनो का अभीष्ट प्रयोजन उसी एक आत्मज्योति की प्राप्ति है।

[८१, ८२, ८३]

संसारघोरघर्मेण सदा तप्तस्य देहिनः ।
यन्त्रधारागृहं शान्तं तदेव हिमशीतलम् ॥

[८९]

अन्तस्तत्त्वमुपाधिवर्जितमहं व्याहारवाच्यं परम् ।
ज्योतिर्यैः कलितं श्रितं च यतिभिस्ते सन्तु नः शान्तये ।
येषां तत्सदनं तदेव शयनं तत्सम्पदस्तत्सुखम्
तद्वृत्तिस्तदपि प्रियं तदखिलश्रेष्ठार्थसंसाधकम् ॥

अर्थ —जिन मुनियों ने बाह्याभ्यन्तर परिग्रह से रहित और 'अहम्' शब्द के द्वारा कहे जाने वाले उत्कृष्ट ज्योति स्वरूप अन्तस्तत्त्व के स्वरूप को जान लिया है, तथा उसी का आश्रय भी किया है, एवं जिन मुनियों का वही आत्मतत्त्व भवन है, वही शय्या है, वही सम्पत्ति है, वही सुख है, वही व्यापार है, वही प्यारा है, और वही समस्त श्रेष्ठ पदार्थों को सिद्ध करने वाला है, वे मुनि हम लोगों की शान्ति के लिये होवें ।

[९०]

णिच्चु णिरंजणु णाणमउ परमाणंद सहाउ ।
जो एहउ सो संतु सिउ तासु मुणिज्जहि भाउ ॥

अर्थ —द्रव्यार्थिक नय से जो नित्य है, रागादि उपाधि से रहित, ज्ञानमय और परम आनन्द स्वभाव से परिपूर्ण है, जो ऐसा है वही शान्त रूप और शिव रूप है । उसी का शुद्ध बुद्ध स्वभाव है, ऐसा जानकर हे भव्य ! तुम उसी का ध्यान करो ।

[९१]

जो णिय-भाउ ण परिहरइ जो पर-भाउ ण लेइ ।
जाणइ सयलु वि णिच्चु पर सो सिउ संतु हवेइ ॥

अर्थ —जो अपने ज्ञानादि भावो को कभी छोड़ता नही है और जो काम क्रोधादि परभावो को कभी ग्रहण नही करता, तीन लोक तीन काल के सब पदार्थो को मात्र जानता ही है, वही शिव स्वरूप तथा शान्त स्वरूप है ॥

[९२]

अमणु अणिंदिउ णाणमउ मुत्ति-विरहिउ चिमित्तु ।
अप्पा इंदिय-विसउ णवि लक्खणु एहु णिरुत्तु ॥

अर्थ:—यह आत्मा मन और इन्द्रिय समूह से रहित है, ज्ञानमय है, अमूर्तिक है, शुद्ध चेतना स्वरूप है और इन्द्रियो के अगोचर है। ये लक्षण जिसके प्रगट कहे गये है, वही आत्मा है, वही उपादेय और वही आराधने योग्य है ॥

[९३]

देहे वसंतु वि णवि छिवइ णियमें देहु वि जो जि ।
देहें छिप्पइ जो वि णवि मुणि परमप्पउ सो जि ॥

अर्थ -- जो देह मे रहता हुआ भी निश्चय-निश्चयनय से शरीर को स्पर्श नही करता और जो देह से स्पर्शित नही होता, तुम उसी को आत्मा स्वरूप जानो।

[९४]

कम्महिं जासु जणंतहिं वि णिउ णिउ कज्जु सया वि ।
किं पि ण जणियउ हरिउ णवि सो परमप्पउ भावि ॥

अर्थ —ज्ञानावरणादि कर्म अपने अपने गुण

अविनाशी देव स्वरूप हूँ, जो मैं हूँ, वही उत्कृष्ट परमात्मा है। इस प्रकार निस्सन्देह भावना करो।

[१०१]

केवलणाणसहावो केवलदंसणसहावो सुहमइओ।
केवलविरियसहाओ सो हं इदि चिंतये णाणी ॥

अर्थः—जो आत्मा केवलज्ञान स्वाभावी है, केवलदर्शन स्वभावी है, सुखमय है एव केवल वीर्य स्वभाव वाली है, "वही मैं हूँ" ज्ञानी जीव इस प्रकार चिन्तन करे ॥

[१०२]

दंसणणाणपहाणो असंखदेसो हु मुत्तिपरिहीणो।
स-गहियदेहपमाणो णयव्वो एरिसो अप्पा ॥

अर्थ.—परमार्थत. आत्मा दर्शन और ज्ञान हैं प्रधान जिसमे ऐसे अनन्त गुणो से युक्त है, असख्यात प्रदेशी है, मूर्ति रहित अर्थात् अमूर्तीक है और स्वगृहीत शरीर के प्रमाण है। अर्थात् आत्मा इस प्रकार का जानना चाहिए ॥

[१०३]

जस्स ण कोहो माणो माया लोहो य सल्ललेसाओ।
जाइजरामरणं वि य णिरंजणो सो अहं भणिओ ॥

अर्थ.—जिस चैतन्य स्वरूप के न क्रोध है, न मान है, न माया है, न लोभ है, न शल्य है, न लेश्याएँ है और न जन्म, मरण एवं बुढ़ापा है। जो मात्र निरंजन स्वरूप कहा गया है, वही मैं हूँ।

[१०४]

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥

अर्थ—जीव का स्वरूप ऐसा जानो कि जीव रस रहित, रूप रहित, गन्ध रहित और अव्यक्त है, चेतनागुणयुक्त है, शब्द रहित है, लिंग द्वारा ग्रहण न करने योग्य है और संस्थान रहित है।

[१०५]

एवं णाणप्पाणं दंसणभूदं अदिंदियमहत्थं ।
धुवमचलमणालंबं मण्णेऽहं अप्पगं सुद्धं ॥

अर्थ—मैं आत्मा को इस प्रकार ज्ञानात्मक, दर्शनभूत, अतीन्द्रिय महापदार्थ, ध्रुव, अचल, निरालम्ब और शुद्ध मानता हूँ।

[१०६]

मलरहिओ णाणमओ णिवसइ सिद्धीय जारिसोसिद्धो ।
तारिसओ देहत्थो परमो बंभो मुणेयव्वो ॥

अर्थ—जिस प्रकार मल रहित और ज्ञानमय सिद्ध भगवान सिद्ध भूमि में निवास करते हैं, इसीप्रकार मल रहित, ज्ञानमय परम ब्रह्म मेरी इस देह में निवास कर रहा है। ऐसा जानना चाहिए।

[१०७]

णोकम्मकम्मरहिओ केवलणाणाइगुणसमिद्धो जो ।
सोहं सिद्धो सुद्धो णिच्चो एक्को णिरालम्बो ॥

अर्थः—जो आत्म तत्व कर्म नोकर्म से रहित और केवल-ज्ञानादि अनन्त गुणो से सहित है, सिद्ध है, शुद्ध है, शाश्वत है, एक है, और निरालम्ब है वही चेतनत्व स्वभावी मैं हूं ॥

[१०८]

सिद्धो हं सुद्धो हं अणंतणाणादिगुणसमिद्धो हं ।
देहपमाणो णिच्चो असंखदेसो अमुत्तो य ॥

अर्थ —परमार्थत मैं सिद्ध हूं, शुद्ध हूं, अनन्तज्ञानादि गुणो से समृद्ध हूं, देहप्रमाण हूं, नित्य हूं, असंख्यात प्रदेश वाला हूं, और अमूर्तीक हूं ॥

[१०९]

देहत्थो देहादो किंचूणो देहवज्जिओ सुद्धो ।
देहायारो अप्पा झायव्वो इंदियातीतो ॥

अर्थ —जो देह मे स्थित है, देह से किंचित् न्यून है, देह रहित है, देह के आकार सदृश है और इन्द्रियातीत है, अर्थात् इन्द्रियो का विषय नही है, ऐसे आत्मा का अर्थात् आत्मा के शुद्ध स्वरूप का ध्यान करना चाहिये ॥

[११०]

णाहं होमि परेसिं ण मे परे णत्थि मज्झमिह किं पि ।
एवं खलु जो भावइ सो पावइ सव्वकल्लाणं ॥

अर्थ —निश्चयनय से दूसरा (परद्रव्य) का नहीं हूँ, पर-

द्रव्य भी मेरे नही है, इस लोक मे मेरा कुछ भी नही है, इसप्रकार की भावना को जो दृढ करता है, वह सम्पूर्ण सुखो को प्राप्त होता है।

[१११]

उड्ढोवमज्झलोए ण मे परे णत्थि मज्झमिहकिंचि।
इइ भावणाहि जुत्तो सो पावइ अक्खयं सोक्खं ॥

अर्थ —ऊर्ध्व, मध्य और अधोलोक मे न मेरे परद्रव्य है और न मै परद्रव्य का हूं, इसप्रकार की भावना मे जो सहित होता है अर्थात् जो इस रूप परिणमन करता है, वह अक्षय सुख को प्राप्त करता है।

[११२]

णत्थि मम कोइ मोहो बुज्झो उवजोगमेरमहमेगो।
इइ भावणाहि जुत्तो खवेइ दुट्ठट्ठकम्माणि ॥

अर्थ —मोह मेरा कोई नही है। अर्थात् विभाव भावो से मेरा कोई सम्बन्ध नही है, मै तो चेतन एक और उपयोगमयी हूं। इस भावना से युक्त जीव ही अष्ट कर्मों का क्षय करता है॥

[११३]

णाहं होमि परेसिं ण मे परे सन्ति णाणमहमेक्को।
इदि जो झायदि झाणे सो मुच्चइ अट्ठकम्मेहिं ॥

अर्थ —मै पर का नही हूं, पर मेरे नहीं हैं, मै एक हूं और ज्ञाता द्रष्टा हूं, इसप्रकार जो ध्यान करता है, वह शीघ्र ही अष्ट कर्मो से छूट जाता है।

[११४]

देहा वा दविणा वा सुहदुक्खा वाथ सत्तु।
जीवस्स ण सन्ति धुवा धुवोवओगप्पगो अप्पा ॥

अर्थ —शरीर, धन, सुख दुख (इष्टानिष्ट सामग्री) अथवा शत्रु मित्र जन जीव के ध्रुव नही है। ध्रुव तो उपयोगात्मक आत्मा है।

[११५]

अस्पृष्टमबद्धमनन्यमयुतमविशेषमभ्रमोपेतः ।
यः पश्यत्यात्मानं स पुमान खलु शुद्धनयनिष्ठः ॥

अर्थ —निश्चय नय से आत्मा अस्पृष्ट, अबद्ध, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान आदि गुणो से अनन्य, कर्म स्वरूप न होने से अयुत, अभिन्न और भ्रम ज्ञान से रहित है। जो भव्य इसप्रकार के आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार करता है, वही पुरुष निश्चय से शुद्धनय मे निष्ठ है, उसे ससार के दुःख नही भोगने पडते।

[११६]

ण य अत्थि कोवि वाही ण य मरणं अत्थि मे विसुद्धस्स ।
वाही मरणं काये तम्हा दुःखं ण मे अत्थि ॥

अर्थ —मैं कर्मों की कालिमा से रहित, विशुद्ध और चैतन्य स्वरूप हूँ, इसलिए न मेरे कोई व्याधि है न मरण है, व्याधि और मरण तो शरीर का धर्म है इसलिए मुझे कोई दुःख नही है।

[११७]

सुद्धमओ अहमेक्को सुद्धप्पा णाणदंसणसमग्गो ।
अण्णे जे परभावा ते सव्वे कम्मणा जणिया ॥

अर्थः—मैं शुद्धस्वरूप, एकाकी, अखण्ड ज्ञान और दर्शन का भण्डार विशुद्ध आत्मा हूं। मेरे ज्ञान, दर्शन स्वरूप से भिन्न जितने भी पदार्थ एवं भाव हैं, वे सब मुझ से अत्यन्त भिन्न हैं, क्योंकि वे कर्मों के कार्य हैं।

[११८]

जो खलु सुद्धो भावो सो जीवो चेयणावि सा उत्ता ।
तं चेव हवदि णाणं दंसणचारित्तयं चेव ॥

अर्थ—रागद्वेष मोह आदि दोषों से रहित जो चैतन्य भाव है, वह जीव है, उसी को चेतना कहते हैं, और निश्चय से वही ज्ञान दर्शन एवं चारित्र कहा जाता है।

[११९]

तथा हि चेतनोऽसंख्यप्रदेशो मूर्तिवर्जितः ।
शुद्धात्मा सिद्धरूपोऽस्मि ज्ञानदर्शनलक्षणः ॥

अर्थ—मैं चेतन हूं, असंख्यात प्रदेशी आत्मा हूं और मूर्ति रहित हूं। मेरा आत्मा शुद्ध है, सिद्ध स्वरूप है, और ज्ञानमय है॥

[१२०]

नान्योऽस्मि नाहमस्त्यन्यो नान्यस्याहं न मे परः ।
अन्यस्त्वन्योऽहमेवाहमन्योऽन्यस्यात्मैव मे ॥

अर्थः—मैं अन्य स्वरूप नही हूँ और न अन्य ही मम स्वरूप है, न मैं अन्य का हूँ, न मेरा अन्य है। अन्य अन्य ही है और मै, मैं ही हूँ, अन्योन्य रूप से मैं अपना ही हूँ, दूसरे का नही हूँ ॥

[१२१]

अन्यच्छरीरमन्योऽहं चिदहं तदचेतनं ।
अनेकमेतदेकोऽहं क्षयीदमहमक्षयः ॥

अर्थः—शरीर अन्य है, मै अन्य हूँ, मैं चेतन स्वरूप हूँ, शरीर जड है। शरीर अनेक रूप है, मैं अकेला हूँ, शरीर नाश होने वाला है किन्तु मै अविनाशी हूँ ॥

[१२२]

जीवादिद्रव्ययाथात्म्यज्ञातात्मकमिहात्मना ।
पश्यन्नात्मन्यथात्मानमुदासीनोऽस्मि वस्तुषु ॥

अर्थः—यह मेरा आत्मा अपने ही आत्मा के द्वारा अपने ही आत्मा मे जीवादि सब द्रव्यो के यथार्थ स्वरूप को जानने वाला है। इसप्रकार अपने आत्मा को देख कर मै स्वयं अन्य पदार्थों से उदासीन:होता हूँ ॥

[१२३]

सन्नेवाहं सदाप्यस्मि स्वरूपादिचतुष्टयात् ।
असन्नेवास्मि चात्यन्तं पररूपाद्यपेक्षया ॥

अर्थ —स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से मैं सदा अस्ति रूप हूँ और परद्रव्य, क्षेत्र, काल एव भाव से सदा नास्ति रूप हूँ।

[१२४]

यदचेतत्तथा पूर्वं चेतिष्यति यदन्यथा ।
चेततीत्थं यदत्राद्य तच्चिद्द्रव्यं समस्म्यहम् ॥

अर्थः—जो पहिले भी इसी रूप से चैतन्य स्वरूप था, आगे भी रूपान्तर में चैतन्य स्वरूप रहेगा और आज भी जो चैतन्य स्वरूप है, ऐसा चैतन्य स्वरूप चिद्द्रव्यमय मैं हूँ।

[१२५]

दृग्बोधसाम्यरूपत्वाज्जानन् पश्यन्नुदासिता ।
चित्सामान्यविशेषात्मा स्वात्मनैवानुभूयताम् ॥

अर्थः—यह आत्मा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और समता स्वभाव रूप है इसलिए उसमें सब पदार्थों को देखते और जानते हुए भी जो उदासीनपना है वह सामान्य और विशेष चैतन्य स्वभाव रूप है, आत्मा को उसे अपने ही आत्मा के द्वारा अनुभव करना चाहिए ॥

[१२६]

सोऽस्त्यात्मा सोपयोगोऽयं क्रमाद्धेतुफलावहः ।
यो ग्राह्योऽग्राह्यनाद्यन्तः स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकः ॥

अर्थः - जग-प्रसिद्ध यह आत्मा दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग से युक्त (चैतन्यमय) है। पूर्व अवस्था में आत्मा स्वयं कारण स्वरूप है और उत्तर अवस्था में स्वयं ही कार्य-स्वरूप है। ग्रहण करने योग्य है और ग्रहण करने योग्य नहीं भी

अर्थः—जो भव्य-जन्मरहित, एक स्वरूप, उत्कृष्ट, शान्त व सर्व रागादिकी उपाधि रहित आत्मा को आत्मा के द्वारा जानकर आत्मा मे स्थिर हो जाता है, वही आनन्दमय मोक्षमार्ग मे चलने वाला है, वही आनन्दमय अमृत को पीता है, वही अरहन्त है, वही जगन्नाथ है, वही प्रभू है और वही ईश्वर है ॥

[१३४]

सर्वेषामपि कार्याणां शुद्धचिद्रूपचिन्तनम् ।
सुखसाध्यं निजाधीनत्वादीहामुत्र सौख्यकृत् ॥

अर्थ —जगत मे सुख प्राप्ति के जितने कार्य है, उनमे शुद्ध चिद्रूप का चिन्तन सुख से साध्य है, क्योंकि वह अपने ही आधीन है। इस आत्मचिन्तन से दोनों लोको मे परम सुख की प्राप्ति होती है ॥

[१३५]

चिद्रूपोऽहं स मे तस्मात्तं पश्यामि सुखी ततः ।
भवक्षितिर्हितं मुक्तिर्निर्यासोऽयं जिनागमे ॥

अर्थ —मै शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूँ, इसीलिये मै उसी को देखता हूँ, उसी मे मुझे सुख प्राप्त होता है। जिनागम का भी यही निचोड़ है कि शुद्ध चिद्रूप के ध्यान मे संसार का नाश व हितकारी मुक्ति की प्राप्ति होती है।

[१३६]

चिद्रूपे केवले शुद्धे नित्यानन्दमये यदा ।
स्वे तिष्ठति तदा स्वस्थं कथ्यते परमार्थतः ॥

अर्थ — जब जीव केवल, शुद्ध, नित्य और आनन्दमई अपने स्वभाव में ठहरता है, तभी वह निश्चय से स्वस्थ कहा गया है।

[१३७]

नाहं किंचिन्न मे किंचिद् शुद्धचिद्रूपकंविना।
तस्मादन्यत्र मे चिन्ता वृथा तत्र लयं भजे ॥

अर्थ — शुद्ध चैतन्य स्वरूप के सिवाय न तो मैं कुछ हूँ, न कुछ मेरा है। इसलिए, दूसरे की चिन्ता करना वृथा है, ऐसा जान कर मैं उस शुद्ध चिद्रूप में ही लय होता हूँ ॥

[१३८]

क्व यान्ति कार्याणि शुभाशुभानि,
क्व यान्ति संगाश्चिदचित्स्वरूपाः।
क्व यान्ति रागादय एव शुद्ध-
चिद्रूपकोऽहं स्मरणे न विद्मः ॥

अर्थ — मैं शुद्ध चैतन्य स्वरूप हूँ, ऐसा स्मरण करते ही शुभ व अशुभ कर्म न जाने कहाँ चले जाते हैं। चेतन व अचेतन परिग्रह भी न जाने कहाँ चले जाते हैं और रागादि भाव भी न जाने कहाँ विला जाते हैं।

[१३९]

सोऽहं णिम्ममो सुद्धो णाणदंसणलक्खणो।
सगमुवादेयमेदं चिंतेइ सव्वदा ॥

अर्थ—निश्चय से मैं एक हूँ, निर्ममत्व हूँ, शुद्ध हूँ, ज्ञा
दर्शन वाला हूँ तथा शुद्ध भाव की एकता से ही अनुभव कर
योग्य हूँ, ज्ञानी सदा ऐसा चिन्तन करता है।

[१४०]

जाइजरमरणरोगभयदो रक्खेदि अप्पणो अप्पा।
तम्हा आदा सरणं बंधोदयसत्तकम्मवदिरित्तो॥

अर्थ—जन्म, जरा, मरण, रोग व भय से आत्मा
अपनी रक्षा आप स्वयं करता है इसलिये बन्ध, उदय और सत्व
रूप कर्मों से आत्मा ही अपना रक्षक है।

[१४१]

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सयारूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तं वि॥

अर्थ—निश्चय से मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शनज्ञानमयी हूँ
और सदा अरूपी हूँ। अन्य एक परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है॥

[१४२]

उवओगे उवओगो कोहादिसु णत्थि कोवि उवयोगो।
कोहे कोहे चेव हि उवओगे णत्थि खलु कोहो॥

अर्थ—ज्ञानोपयोगी आत्मा मे ज्ञानोपयोगधारी आत्मा
ोधादिक मे कोई भी ज्ञानोपयोग नहीं है क्रोध मे क्रोध है,
योग मे कोई क्रोध नहीं है।

अर्थ—शुद्ध द्रव्य दृष्टि से देखा जावे तो तत्त्व का यह स्वरूप है कि एक द्रव्य के भीतर दूसरा द्रव्य कदापि भी नही झलकता है। ज्ञान जो पदार्थों को जानता है, वह ज्ञान के शुद्ध स्वभाव का प्रभाव है, फिर क्यो मूढ जन परद्रव्य के साथ राग-भाव करते हुए आकुल व्याकुल होकर अपने स्वरूप से भ्रष्ट होते है ॥

[१५२]

चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारो जीव इयानयम् ।
अतोऽतिरिक्ताः सर्वेऽपि भावाः पौद्गलिका अमी ॥

अर्थ—यह जीव चैतन्य शक्ति से सम्पूर्ण भरा हुआ है, इस चैतन्यता के सिवाय जितने रागादि भाव है, वे सब पुद्गल जड के रचे हुए है ॥

[१५३]

अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं बिभ्रत् पृथक् वस्तुता-
मादानोज्झनशून्यमेतदमलं ज्ञानं तथावस्थितम् ।
मध्याद्यन्तविभागमुक्तसहजस्फारप्रभाभासुरः ।
शुद्धज्ञानघनो यथास्य महिमा नित्योदितस्तिष्ठति ॥

अर्थ—आत्मा का स्वभाव जो ज्ञान है, वह अन्य द्रव्यो मे नही है। आत्मारूपी द्रव्य मे निश्चल ठहरा है, सर्व अन्य पदार्थों से पृथक् है। इसमे न किसी का ग्रहण है, न किसी का त्याग है, निर्मल है, जैसा है वैसा ही स्थित है, अनादि व अनन्त है। ——

ज्ञान दर्शन का समूह यह आत्मा अपनी महिमा को लिये हुए नित्य उदय रहता है।

[१५४]

अनाद्यनन्तमचलं स्वसंवेद्यमबाधितम् ।
जीवः स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते ॥

अर्थ —यह जीव अनादि-अनन्त है, स्वभाव से निश्चल है, स्वानुभवगम्य है, प्रगट है, चैतन्यस्वरूप है और अपने मे ही पूर्ण प्रकाशरूप है ॥

[१५५]

एकः सदा शाश्वतिको ममात्मा विनिर्मलः साधिगमस्वभावः ।
बहिर्भवाः सन्त्यपरे समस्ता न शाश्वताः कर्मभवाः स्वकीयाः ॥

अर्थ —मेरा आत्मा सदा ही एक, अविनाशी, निर्मल और ज्ञान स्वभावी है, अन्य रागादि भाव सब मेरे स्वभाव से बाहर है, अस्थिर है और अपने अपने कर्मों के उदय से हुए है।

(१५६)

यस्यास्ति नैक्यं वपुषापि सार्धं तस्यास्ति किं पुत्रकलत्रमित्रैः ।
पृथक्कृते चर्मणि रोमकूपाः कुतो हि तिष्ठन्ति शरीरमध्ये ॥

अर्थ —जिस आत्मा की एकता इस शरीर के साथ ही नहीं है, वह किस प्रकार पुत्र, स्त्री और मित्र आदि के साथ कैसे होगी? जिस प्रकार रोमकूप शरीर में हैं, किन्तु रोमछिद्र चमड़ा अलग कर देने पर शरीर में कैसे रह सकते हैं? अर्थात् नहीं रह सकते।

[१५७]

यः स्वमेव समादत्ते नादत्ते यः स्वतोऽपरम् ।
निर्विकल्पः स विज्ञानी स्वसंवेद्योऽस्मि केवलम् ॥

अर्थ —निश्चयत जो अपने (ज्ञानादि गुणो) को ही ग्रहण करता है, तथा जो अपने से पर हैं, उन्हे ग्रहण नही करता, ऐसा मैं आत्मा हू, उसमे कोई विकल्प नही है, ज्ञानमय है, केवल एक अकेला है और वह अपने मे आप ही अनुभव गम्य है ।

[१५८]

एदम्हि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि ।
एदेण होहि तित्तो होहदि तुह उत्तमं सोक्खं ॥

अर्थ —हे भव्य जीव ! तू इस ज्ञान मे सदा काल रुचि से लीन हो और इसी मे हमेशा सन्तुष्ट हो, अन्य कोई कल्याणकारी नही है । इसी से तृप्त हो, अन्य कुछ इच्छा न रहे, ऐसा करने से तुझे उत्तम सुख होगा ।

[१५९]

उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिओ जिणवरेहिं ।
ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमिक्को ॥

अर्थ —जिनेन्द्र देव ने कर्मो के उदय का रस अनेक प्रकार का कहा है । वे कर्म विपाक से हुए भाव मेरा स्वभाव नही है, मैं तो एक ज्ञायक भाव स्वरूप हू ।

[१६०]

पुग्गलकम्मं रागो तस्स विवागोदओ हवदि एसो ।
ण दु एस मज्झ भावो जाणगभावो हु अहमिक्को ॥

अर्थ — यह राग पुद्गल कर्म है, उसके विपाक का उदय है, जो मेरे अनुभव में रागरूप प्रीति रूप आस्वाद होता है, सो यह मेरा स्वभाव नहीं है, क्योंकि निश्चय कर मैं तो एक ज्ञायकभाव स्वरूप हूं ।

[१६१]

सर्वतः स्वरसनिर्भरभावं चेतये स्वयमहं स्वमिहैकम् ।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोहः शुद्धचिद्घनमहोनिधिरस्मि ।

अर्थ — इस लोक में मैं अपने आप ही से एक आत्मस्वरूप का अनुभव करता हूं । जो मेरा स्वरूप सर्वांग अपने निजरसरूप चैतन्य के परिणमन से पूर्ण भरा हुआ है, इसी कारण यह मोह मेरा कुछ भी नहीं लगता अर्थात् इसका और मेरा कुछ भी नाता नहीं है । मैं तो शुद्ध चैतन्य का समूह रूप तेज पुंज का निधि हूं ।

(१६२)

निर्विकारं निराबाधं सर्वसंगविवर्जितम् ।
परमानन्दसम्पन्नं शुद्धचैतन्यलक्षणम् ॥

अर्थ — शुद्ध चैतन्य लक्षण से शोभित मेरा आत्म द्रव्य निर्विकार, बाधा रहित, सर्व परिग्रह से रहित और परम आनन्द

[१६३]

नलिनाच्च यथा नीरं भिन्नं तिष्ठति सर्वदा ।
सोऽयमात्मा स्वभावेन देहे तिष्ठति निर्मलः ॥

अर्थ —जिसप्रकार नलिन से नीर (जल) हमेशा भिन्न रहता है, उसी प्रकार मेरा यह निर्मल आत्मा शरीर मे स्वभाव मे भिन्न ही रहता है ।

[१६४]

द्रव्यकर्ममलैर्मुक्तं भावकर्मविवर्जितम् ।
नोकर्मरहितं सिद्धं निश्चयेन चिदात्मकम् ॥

अर्थ —निश्चय नय से मेरा चिदात्मा द्रव्य कर्म रूपी मल से रहित है, भावकर्म से मुक्त और नोकर्म से विवर्जित है ॥

[१६५, १६६, १६७, १६८]

स एव परमं ब्रह्म स एव जिनपुंगवः ।
स एव परमं तत्त्वं स एव परमो गुरुः ॥

स एव परमं ज्योतिः स एव परमं तपः ।
स एव परमं ध्यानं स एव परमात्मकः ॥

स एव सर्व कल्याणं स एव सुखभाजनम् ।
स एव शुद्धचिद्रूपं स एव परमं शिवः ॥

स एव परमानन्दः स एव सुखदायकः ।
स एव परमज्ञान स एव गुणसागरः ॥

अर्थ—वह परम चिज्ज्योति ही ब्रह्म है, वही जिन पुंगव है, वही परम तत्त्व है, वही परम गुरु है, वही उत्कृष्ट ज्योति है, वही उत्कृष्ट तप है, वही परम ध्यान है, वही सुख का केन्द्र है, वही शुद्ध चिद्रूप है, वही परम कल्याण है, वही परमोत्कृष्ट आनन्द है, वही सुखप्रदाता है, वही परम ज्ञान है और वही गुणो का समुद्र है।

[१६६]

अहमेवाहमित्यात्मज्ञानादन्यत्र चेतनाम् ।
इदमस्मि करोमीदमिदं भुञ्जे इतिक्षिपे ॥

अर्थ—मैं ही मैं हूं, इस तत्त्वज्ञान से भिन्न यह (परमात्मा) मैं हूं, मैं कर्ता हूं, मैं भोक्ता हूं, इसप्रकार के चिन्तन को [illegible] करना चाहिए।

[१७०]

द्वन्द्वाभिधृत्यात्मकमेकमेव
चैतन्यसामान्यनिजात्मतत्त्वम् ।
मुक्तिस्पृहाणामयनं तदुक्तं
नैतेन मार्गेण विना न मोक्षः ॥

अर्थ—मुक्ति-प्राप्ति-मुनि [illegible] ही चैतन्य-सामान्य [illegible] निज आत्मतत्त्व है, वह मोक्षार्थियों का प्रसिद्ध मार्ग है; [illegible]

[१७५]

समयसारमनाकुलमच्युतम्
जननमृत्युरुजादिविवर्जितम् ।
सहजनिर्मलशर्मसुधामयम्
समरसेन सदा परिपूजये ॥

अर्थ:—जो अनाकुल है, अच्युत है, जन्म-मृत्यु और रोगादि से रहित है, सहज निर्मल सुखामृतमय है, उस समयसार को मै समता भाव द्वारा सदा पूजता हूँ ॥

[१७६]

आद्यन्तमुक्तमनघं परमात्मतत्वम्
निर्द्वन्दमक्षयविशालवरप्रबोधम् ।
तद्भावनापरिणतो भुवि भव्यलोकः
सिद्धिं प्रयाति भवसम्भवदुःखदूराम् ।

अर्थ .—परमात्मतत्त्व आदि अन्त रहित है, दोष रहित है, निर्द्वन्द है और अक्षय विशाल उत्तम ज्ञानस्वरूप है । जगत मे जो भव्य जन उसकी भावना रूप परिणमित होते है, वे भव जनित दुःखों से दूर ऐसी सिद्धि को प्राप्त करते है ।

[१७७]

णिग्गंथो णीरागो णिस्सल्लो सयलदोसणिम्मुक्को
णिक्कामो णिक्कोहो णिम्माणो णिम्मदो अप्पा ।

अर्थ:—आत्मा निर्ग्रन्थ, निराग, निःशल्य, सर्व दोष विमुक्त, निष्काम, निःक्रोध, निर्मान और निर्मद है ।

[१७८]

जयति सहजबोधस्तादृशी दृष्टिरेषा
चरणमपि विशुद्धं तद्विधं चैव नित्यम् ।
अघकुलमलपंकानीकनिर्मुक्तमूर्तिः
सहजपरमतत्त्वे संस्थिता चेतना च ॥

अर्थ:—सहजज्ञान सदा जयवन्त है, वैसी सहजदृष्टि सदा जयवन्त है, वैसा ही सहज (विशुद्ध) चारित्र भी सदा जयवन्त है; पापसमूह रूपी मल की अथवा कीचड़ की पंक्ति से रहित जिसका स्वरूप है, ऐसी सहज परमतत्त्व में संस्थित चेतना भी सदा जयवन्त है ।

[१७९]

अथ निजपरमानन्दैकपीयूषसान्द्रम्
स्फुरति सहजबोधात्मानमात्मानमात्मा ।
निजशममयवार्भिर्निर्भरानन्दभक्त्या
स्नपयतु बहुभिः किं लौकिकालापजालैः ॥

अर्थ [illegible]

[१८०]

जयति स परमात्मा केवलज्ञानमूर्तिः
सकलविमलदृष्टिः शाश्वतानन्दरूपः ।
सहजपरमचिच्छक्त्यात्मकः शाश्वतोयं
निखिलमुनिजनानां चित्तपंकेजहंसः ॥

अर्थ —समस्त मुनिजनो के हृदयकमल का हंस ऐसा जो यह शाश्वत, केवलज्ञान की मूर्तिरूप, सकलविमल दृष्टिमय, शाश्वत आनन्दरूप सहज परम चैतन्यशक्तिमय परमात्मा वह जयवन्त है।

[१८१]

णियभावं णवि मुच्चइ परभावं णेव गेण्हए केइं ।
जाणदि पस्सदि सव्वं सो हं इदि चिंतये णाणी ॥

अर्थ —जो निज भाव को छोडता नही है और किंचित् भी परभाव को ग्रहण नही करता, सर्व को जानता-देखता है, वह मैं हूँ—ज्ञानी ऐसा चिन्तवन करता है।

[१८२]

प्रेक्षावद्भिः सहजपरमानन्दचिद्रूपमेकम्
संग्राह्यं तैर्निरुपममिदं मुक्तिसाम्राज्यमूलम् ।
तस्मादुच्चैस्त्वमपि च मखे मद्वचः सारमस्मिन्
श्रुत्वा शीघ्रं कुरु तव मतिं चिच्चमत्कारमात्रे ॥

अर्थ —जो मुक्ति साम्राज्य का मूल है ऐसे इस निरुपम, सहज परमानन्दवाले चिद्रूप को, एक (अविनाश) को, बुद्धिमान

[१८५]

अखण्डितमनारतं सकलदोषदूरं परं
भवाम्बुनिधिमग्नजीवततियानपात्रोपमम् ।
अथ प्रबलदुर्गवर्गदववह्निकीलालकम्
नमामि सततं पुनः सहजमेव तत्त्व मुदा ॥

अर्थ.—जो अखण्डित है, शाश्वत है, सकल संकटो के समूह रूपी दावानल को शान्त करने के लिये जल समान है, उस सहज तत्त्व को मैं प्रमोद से सतत नमस्कार करता हूँ ॥

[१८६]

जयति सहजतेजः प्रास्तरागान्धकारो
मनसि मुनिवराणां गोचरः शुद्धशुद्धः
विषय सुख रतानां दुर्लभः सर्वदायम्
परमसुखसमुद्रः शुद्धबोधोऽस्तनिद्रः ॥

अर्थः—जिसने सहज तेज से रागरूपी अन्धकार का नाश किया है, जो मुनिवरों के मन मे वास करता है, जो शुद्धातिशुद्ध है जो विषयसुख मे रत जीवो को सर्वदा दुर्लभ है, जो परम सुख का समुद्र है, जो शुद्ध ज्ञान है तथा जिसने निद्रा का नाश किया है ऐसा यह शुद्ध आत्मा जयवन्त हो ॥

[१८७]

जयत्यनघचिन्मयैः सहजतत्त्वमुच्चैरिदम्
विमुक्तसकलेन्द्रियप्रकरजालकोलाहः

नयानयनिकायदूरमपि योगिनां गोचरम्
सदा शिवमयं परं परमदूरमज्ञानिनाम् ॥

अर्थ.—जो सकल इन्द्रियों के समूह से उत्पन्न होने वाले कोलाहल से विमुक्त है, जो नय और अनय के समूह से दूर होने पर भी योगियों के गोचर है, जो सदा शिवमय है, उत्कृष्ट है और जो अज्ञानियों को परम दूर है, ऐसा यह निर्दोष चैतन्यमय सहजतत्त्व अत्यन्त जयवन्त है ॥

[१८८]

अनादिममसंसाररोगस्यागदमुत्तमम् ।
शुभाशुभविनिर्मुक्तशुद्धचैतन्य भावना ॥

अर्थ - शुभ और अशुभ से रहित शुद्ध चैतन्य की भावना मेरे अनादि संसार रोग की उत्तम औषधि है ॥

[१८९]

आनन्दं तत्त्वमज्जज्जिनमुनिहृदयाम्भोजकिञ्जल्कमध्ये
निर्व्याबाधं विशुद्धं स्मरशरगहनानीकदावाग्निरूपम् ॥
शुद्धज्ञानप्रदीपप्रहतयमिमनोगेहघोरान्धकारम्
तद्वन्दे साधुवन्द्यं जननजलनिधौ लंघने यानपात्रम् ॥

अर्थ — तत्त्व में निमग्न ऐसे मुनिवरों के हृदयकमल की [illegible] में जो आनन्द सहित निराबाध है, जो बाधा रहित है, [illegible] विशुद्ध है, जो कामदेव के बाणों की गहन सेना को [illegible] के लिए दावानल समान है और जिसने शुद्ध-

विशदविशदं नित्यं वाह्यप्रपञ्चपराङ्मुखम्
किमपि मनसां वाचां दूरं मुनेरपि तन्नुमः ॥

अर्थ :—सात तत्त्वो मे सहज परम तत्त्व निर्मल है, सकल विमल ज्ञान का आवास है, निरावरण है, कल्याणमय है, अति-स्पष्ट है, नित्य है, वाह्य प्रपच से पराङ्मुख है, और मुनि को भी मन से तथा वाणी से अति दूर है, उसे हम नमन करते है ॥

[१९५]

यः सर्वकर्मविषभूरुहसम्भवानि
मुक्त्वा फलानि निजरूपविलक्षणानि
भुंक्तेऽधुना सहजचिन्मयमात्मतत्त्वम्
प्राप्नोति मुक्तिमचिरादिति संशयः कः ॥

अर्थ :—सर्व कर्म रूपी विषवृक्षो से उत्पन्न होने वाले, निजरूप मे विलक्षण ऐसे फलो को छोड कर जो जीव इसी समय सहज चैतन्यमय आत्मतत्त्व को भोगता है, वह जीव अल्पकाल मे मुक्ति प्राप्त कर लेता है—इसमे क्या सशय है ॥

[१९६]

नित्यानन्दमयं शुद्धं चित्स्वरूपं सनातनम् ।
पश्यत्यात्मनि परं ज्योतिरद्वितीयमनव्ययम् ॥

अर्थ —मै नित्य सहजानन्दमय हू, शुद्ध हूँ, चैतन्य स्वरूप हूँ, सनातन हूँ, परमज्योति स्वरूप हूँ, अनुपम हूँ, अविनाशी हूँ, ज्ञानी ऐसा अपने भीतर अपने को देखता है ।

[१९७]

एतैतेतः पदमिदमिदं यत्र चैतन्यधातुः ।
शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति ॥

अर्थ :—हे अन्ध पुरुषो ! अनादि संसार से लेकर प्रत्येक शरीर में ये रागी प्राणी उन्मत्त होते हुए जिस पद में सो रहे हैं वह पद तेरा नहीं है, वह तेरा पद नहीं है, ऐसा भली प्रकार समझ ले। इधर आ, इधर आ, तेरा पद वह है, जहां चैतन्य धातुमय आत्मा द्रव्य व भाव दोनों से शुद्ध अपने आत्मीय रस से पूर्ण सदा ही विराजमान रहता है।

[१९८]

स्वं चिद्रूपं निजात्मानं स्मर शुद्धं प्रतिक्षणम् ।
यस्य स्मरणमात्रेण सद्यः कर्मक्षयो भवेत् ॥

अर्थ :—हे आत्मन् ! तू चिद्रूपस्वरूप शुद्ध अपने आत्मा का प्रतिक्षण स्मरण कर जिसके स्मरण मात्र से शीघ्र ही कर्मों का [illegible] है।

[१९९]

रागाद्या न विधातव्याः सत्यसत्यपि वस्तुनि ।
ज्ञात्वा स्वशुद्धचिद्रूपं तत्र तिष्ठ निराकुलः ॥

अर्थ :— [illegible] शुद्ध चैतन्य स्वरूप को जानकर [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है।

शीतलता के स्रोत मुनीश्वर, केशर चन्दन लाया।
परम पुनीत चरण चर्चित कर, भव आताप मिटाया॥
श्रुतसागर आचार्य-कल्प मुनि, तुम हो तत्त्व-प्रकाशी।
मन वच तन जो पूज रचावे, मेटे भव की फांसी॥

ॐ ह्रीं आचार्यकल्प श्री श्रुतसागर मुनीन्द्राय
संसार तापविनाशनाय चन्दन नि० ॥२॥

अक्षय गुण भंडार भरे हो, अवगुण दूर भगाऊं।
अविनाशी अक्षय पद कारण, अक्षत अग्र चढ़ाऊं।
श्रुतसागर आचार्य-कल्प मुनि, तुम हो तत्त्व-प्रकाशी।
मन वच, तन जो पूज रचावे, मेटे भव की फांसी॥

ॐ ह्रीं आचार्यकल्प श्री श्रुतसागर मुनीन्द्राय
अक्षयपदप्राप्तये अक्षतान् नि० ॥ ३ ॥

काम वली को जीत भगाया, शिव रमणी के स्नेही।
चरण चढ़ाऊं पुष्प सुगन्धित, कमल चमेली जूही॥
श्रुतसागर आचार्य-कल्प मुनि, तुम हो तत्त्व-प्रकाशी
मन वच तन जो पूज रचावे, मेटे भव की फांसी॥

ॐ ह्रीं आचार्यकल्प श्री श्रुतसागर मुनीन्द्राय
काम बाण विनाशनाय पुष्पम् नि० ॥ ४ ॥

स्वपर क्षुधा नाशन को उद्यत, रसना वश में कीनी।
चरण चढ़ाऊं घेवर बावर, मोदक खाजे फीनी॥

श्रुतसागर आचार्य-कल्प मुनि, तुम हो तत्त्व-प्रकाशी ।
मन वच तन जो पूज रचावे, मेटे भव की फांसी ॥

ॐ ह्रीं आचार्यकल्प श्री श्रुतसागरमुनीन्द्राय क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्य

मिथ्यातम को दूर भगाया, सम्यक् ज्योति जगाई ।
नष्ट करूं मैं मोह तिमिर को, दीपक अग्र जलाई ॥
श्रुतसागर आचार्य-कल्प मुनि, तुम हो तत्त्व प्रकाशी ।
मन वच तन जो पूज रचावे, मेटे भव की फांसी ॥

ॐ ह्रीं आचार्यकल्प श्री श्रुतसागर मुनीन्द्राय
मोहान्धकार विनाशनाय दीपम् नि० ॥ ६ ॥

पाप पुञ्ज का नाश करन को तप की अग्नि जलाई ।
कृष्णागरु के संग जलाऊं कर्म गति दुखदाई ॥
श्रुतसागर आचार्य-कल्प मुनि, तुम हो तत्त्व-प्रकाशी ।
मन वच तन जो पूज रचावे, मेटे भव की फांसी ॥

ॐ ह्रीं आचार्यकल्प श्री श्रुतसागर मुनीन्द्राय
अष्टकर्मदहनाय धूपं नि० ॥ ७ ॥

[illegible] फल पावन उत्तम, [illegible] ।
श्रीफल [illegible] पाऊं शिव [illegible] ॥
श्रुतसागर आचार्य-कल्प मुनि, तुम हो तत्त्व-प्रकाशी ।
मन वच तन जो पूज रचावे, मेटे भव की फांसी ॥

ॐ ह्री आचार्यकल्प श्री श्रुतसागर मुनीन्द्राय।
मोक्षफल प्राप्तये फलम् निर्वपामीति० ॥ ८ ॥

जल चन्दन अक्षत आदिक, सब अर्घ अखण्ड बनाऊं।
चरण कमल में अर्पित करके, भव सागर तर जाऊं॥
श्रुतसागर आचार्य-कल्प मुनि, तुम हो तत्त्व-प्रकाशी।
मन वच तन जो पूज रचावे, मेटे भव की फांसी।

ॐ ह्री आचार्यकल्प श्री श्रुतसागर मुनीन्द्राय
अनर्घ्य पद प्राप्तये अर्घ्य नि० ॥ ९ ॥

जयमाला (पद्धतिछंद)

जय स्वपर हितैषी गुरु महान्, जय पूर्ण :अहिंसक ज्ञानवान ।
जय मृदुल सत्यवाणी प्रधान, जय आत्म निरीक्षण गुण महान् ।।
नहिं ग्रहण करे तृण जल अदन्त, नहिं बाह्य परिग्रह मे ममत्व।
नहिं विषय चाह नहि काम वास, भव देह भोग से अति उदास ।।
त्रय गुप्ति पंच समिति प्रसार, आवश्यक मे नहि अतीचार ।
गुण शेष सात का नित प्रकाश, मन इन्द्रिय निग्रह मे विकास ।।
नहिं राग द्वेष नहि मोह मान, नहिं ख्याति लाभ पूजादि भान ।
ममता माया अरु नेह त्याग, जय सहे परीषह सतत जाग ।।
जय चारित की पतवार हाथ, समता क्षमता को रखे साथ ।
सिद्धान्त ज्ञान अरु स्याद्वाद, चर्चा करते नित निर्विवाद ।।
सन्तोष शील निधि है महान्, अरु वात्सल्य गुण अति प्रधान ।
शिव पन्थ कथक आगम प्रमाण, ऐसे गुरुवर ही प्राण त्राण ।।
जग जीवन हित करते विहार, हो भव्यजनो के कंठ हार ।
मैं प्रणमूं स्वामिन् बार बार, गह बांह भवार्णव करो पार ।।

।। घत्ता ।।

जय श्रुत सागरजी गुण आगरजी ।
कृपा दृष्टि मुझ पर कीजे ।।
बहु भटक चुका हूँ तड़फ रहा हूँ ।
संयम दे दुख हर लीजे ।।

ॐ ह्रीं आचार्यकल्प श्री श्रुतसागर मुनीन्द्राय पूर्णार्घ

॥ दोहा ॥

ी गुरुवर के चरण युग, श्रद्धा शीश नवाय ।
ागों में संशय नहीं, निश्चय शिव पद पाय ॥

॥ इत्याशीर्वादः ॥

र्घं १०८ श्री अजितसागरजी

धन्य ब्रह्मचारी गुणधारी, शिवसागर के शिष्य महान ।
वेष दिगम्बर धारी गुरुवर सरस्वती का है वरदान ॥
मन इन्द्रिय को जीत धारने, अजित नाम को सार्थ किया ।
चरणन अर्घ चढ़ा कर मैंने, मिथ्यातम को दूर किया ॥
ह्रीं श्री अजितसागरमुनीन्द्राय अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं नि० ॥

अर्घं १०८ श्री निर्मलसागरजी

निर्मलसागर निर्मल महा, निर्मल वेष दिगम्बर महा ।
निर्मल अर्घ चढ़ा स्तुति करूं, निर्मल हो शिवरमणी वरूं ॥
ॐ ह्रीं श्री निर्मलसागरमुनीन्द्राय अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं नि० ।

अर्घं १०८ श्री सुबुद्धिसागरजी

[illegible] सुबुद्धिधार सुबुद्धि सागर मुनिवरा ।
शिवसिन्धु के उपदेश से, दीक्षा धारकर सुन्दरा ॥
[illegible] गुणा, निश्चय की भावना ।
[illegible] विशुद्ध करो, यह [illegible] ॥
ह्रीं श्री सुबुद्धिसागरमुनीन्द्राय अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं नि० ।

अर्घ १०८ श्री यतीन्द्रसागरजी

जय यतीन्द्रसागर मुनिराज, भव समुद्र के आप जहाज।
अष्ट द्रव्य जो पूजे पाँय, अष्ट कर्म दह शिवपुर जाँय॥

ॐ ह्री श्री यतीन्द्रसागरमुनीन्द्राय अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्य नि०।

अर्घ १०८ श्री समतासागरजी

समतासागर मुनिराज, समता शील लसे।
शम दम क्षमता गुणधार, ममता मोह नशे॥
समतामृत का सुस्वाद, नित प्रति चाहत हो।
समता से अर्घ सजोय, चरण चढावत हो॥

ॐ ह्रीं श्री समतासागर मुनीन्द्राय अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्य नि०।